सुमन-संचय

सुमन-संचय

प्रमुख गल्प लेखकों की चुनी हुई कहानियाँ

(तुलनात्मक भूमिका सहित)
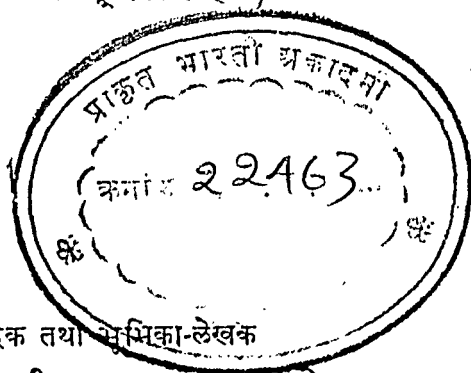
संपादक तथा भूमिका-लेखक

श्री सूर्यकान्त शास्त्री, एम. ए., एम. ओ. एल.

प्रोफेसर

डी. ए. वी. कालेज,

लाहौर

प्रकाशक

हिन्दी भवन

लाहौर

मूल्य

२॥)

विषय-सूची

भूमिका

शाश्वत कथा

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे एकान्तवास पसंद नहीं। अन्य लोगों के कार्य-कलाप, उनकी भावनाएँ, उनके रागद्वेष, उनके सांसारिक बंधन आदि की बातें जानने में उसे एक प्रकार का आनंद होता है। वह अपने जीवन में सुख-दुःख राग-विराग, और भले-बुरे के घात-प्रतिघात को सहता है। उसके जीवन में प्रतिक्षण इच्छा के साथ अनिच्छा का एक के साथ अनेक का, साधना के साथ स्वभाव का, कामना के साथ घटनाओं का संघर्ष होता रहता है। यह घात-प्रतिघात और संघर्ष ही उसकी कहानी है; यह उत्थान और पतन ही उसका इतिहास है।

चेतना के विकास के साथ कथा का सूत्रपात

चेतना के विकास के साथ-साथ जीवन की यह कथा आरंभ हो जाती है। इस कथा को कहना और सुनना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। ज्योंही बच्चे ने तुतलाना सीखा, वह बोला—"कहानी कहो"। नानी ने कहानी आरंभ कर दी—"एक राजकुमार, एक कोतवाल का बेटा और एक साहूकार का बेटा..."—कहानी चल पड़ती है और उसके जीवन में भिन्न भिन्न प्रकार से सदा कही जाती रहती है।

सौन्दर्य-प्रियता साहित्य की आधारशिला है

मनुष्य के अंदर सौंदर्यप्रियता सब से अधिक है। वह चाहता है कि वह दूसरों को अच्छा लगे और उसके साथी उससे प्रेम करें। वह चाहता है कि उसकी कृति रमणीय हो और लोग उस पर रीझ जाँय। सौंदर्य की उपासना उसके जीवन का प्रमुख ध्येय है और यही उसके साहित्य की मूल भित्ति है।

वास्तविक काव्य और यथार्थ वृत्तात्मक काव्य

घात-प्रतिघात और संघर्ष की कहानी उसकी अपनी कहानी थी। वह उस पर बीत रही थी। उसने रंगस्थली में आकर अनेकों बार प्रणयिणी के गले में प्रेम-हार पहनाये थे। अनेकों बार ये तोड़ गये, दूर फेंक दिये गये। उसका दिल टूट गया; उसकी आशाएँ आँसुओं की झड़ी में मिट गईं। वह चिल्ला उठा "अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।" अन्तस्तली के इस रागात्मक

हाहाकार का नाम ही साहित्य है। दूसरों के इस रुदन का रागात्मक वर्णन ही "वृत्तात्मक काव्य" है।

काव्य, संगीत और छन्द

सृष्टि के आरंभ से मनुष्य ने अपने इन गंभीर तथा मर्मस्पर्शी भावों को संगीतमय भाषा में व्यंजित किया है। इस प्रकार कविता और पद्य का संबंध बहुत पुराना है। पद्यमयी कविता को पढ़ते समय हम मर्त्यलोक से अपना आँचल छुड़ा स्वर्गलोक में जा विराजते हैं। हमारे मनोवेग उत्तेजित हो हमें कल्पना के मंजुल प्रान्त में ले उड़ते हैं, और हम कवि के उड़नखटोले पर चढ़ उस रम्यस्थली में विहार करते हैं जहाँ भय नहीं, शोक नहीं, दुनियाँदारों की आँखें नहीं, और काल की पहुँच नहीं। यौवन के उस नवल वसन्त में प्रेम है, प्रेम की पीर नहीं; केलि है, उसका कालुष्य नहीं।

प्राचीनतम साहित्य का आधार कथाएँ हैं

संसार का जितना भी पुराने से पुराना साहित्य है सब में किसी न किसी रूप में वृत्त-वर्णन अथवा कथाएँ विद्यमान हैं। आर्य जाति के सर्व-प्राचीन साहित्यिक स्मारक ऋग्वेद में हमें अनेक कथाएँ मिलती हैं। ऋषि इन्द्र को मनाते हैं, यज्ञ में उसका आह्वान कर कर उसे हरी-हरी दाभ पर बिठाते हैं; और उसे सोमरस पिला वृत्रासुर के विध्वंस के लिए कटिबद्ध करते हैं। इन्द्र वृत्र को प्रचारता है, उसे मारता है। उसके "गोठ" में से गौओं को हाँक लाता है और भाँति-भाँति के और बहुत से

साहस-कृत्य दिखाता है। इन्द्र और वरुण के संवाद में वार्तालाप है, चरित है, और अभिनय है। शुनः-शेप की कथा, सरमा-पणि-संवाद, यम-यमी-संवाद आदि कहानी नहीं तो और क्या हैं?

जीवन के बहुमुख विकास के साथ साहित्य की अनेक प्रणालियों का विकास

शनैः-शनै मनुष्य के जीवन में विकास हुआ। उस का जीवन बहु-मुख हुआ। जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों के विकास के साथ आरूपों के ललित व्याख्यान के लिए भिन्न-भिन्न ललित कलाओं का सूत्रपात हुआ। उसके जीवन की अन्तस्तलों के गीत अब तक पद्यों में गाये जाते थे, उस के जीवन का रागात्मक व्याख्यान अब तक छन्द में था। अब उसके अनेक मार्ग निर्धारित हुए। शनैःशनैः प्रबन्ध-काव्य, नाटक और आख्यायिका आदि का अवतार हुआ।

उपन्यास और आख्यायिका

अँग्रेज़ी साहित्य के आगमन से पहले भारत में कहानी और उपन्यास का विशेष भेद न था। कथा और आख्यायिका का भेद कृत्रिम था। उसमें केवल इस बात के आधार पर कि कोई वृत्त-वर्णन उच्छ्वासों में विभक्त है या नहीं, अथवा वह नायक-कथित है अथवा अन्य-कथित, उसे आख्यायिका अथवा कथा का नाम दे दिया जाता था। यह भेद केवल परिधान का था, शरीर का नहीं। इसमें वस्तु एक थी, नाम दो थे। इसीलिए दण्डी काव्यादर्श में कहता है:—

"तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥"

संस्कृत में उपन्यास के उदाहरण "कादंबरी" तथा "दशकुमार-चरित" आदि हैं ।

प्राचीन और आधुनिक कहानियों में मुख्य भेद

कादम्बरी तथा दशकुमार-चरित से भी बहुत पहले भारत में पंचतन्त्र तथा हितोपदेश जैसी कहानियाँ बन चुकी थीं । किन्तु इन कहानियों का ध्येय उपदेश करना था। इनमें कला का तिरस्कार था । वे रसात्मक काव्य नहीं, चोखे चुटकले है । उनमें प्राकृतिक और अप्राकृतिक का नियन्त्रण नहीं; दोनों का स्वेच्छाचरिता के साथ उपयोग हुआ है । उनमें मनुष्य के आन्तरिक हाहाकार की प्रतिध्वनि नहीं, उनमें मनुष्य की मनुष्य के प्रति समवेदना और उत्कंठा समुद्बोधित करने का प्रयत्न नहीं। कल्पना की उत्तुङ्गस्थली में विहार करने के कारण उनमें अद्भुत अंश का आधिक्य है। उनमें रसपरिपाक का अभाव है; फलतः उनकी यथार्थ काव्य में गणना नहीं की जा सकती । आजकल की कहानियाँ काव्य का एक आवश्यक अंग हैं ।

आधुनिक कहानियाँ

कहानी उस गद्य कथानक का नाम है जो घंटे दो घंटे के भीतर पढ़ा जा सके, अर्थात् ऐसी कहानी जो थोड़े से अवकाश के समय एक ही बैठक में समाप्त हो सके। कहानियाँ इतनी छोटी होती हैं कि किसी मासिक पत्र

के एक दो अंक में, और-और विषयों के साथ, कई-कई आ जाती हैं। उपन्यासों और नाटकों की भाँति इनसे भी अच्छी नैतिक शिक्षा मिलती है और चोखा मनोरंजन हो जाता है। यही कारण है कि आजकल आख्यायिका साहित्य का प्रचार दिनों-दिन बढ़ता जाता है।

कारण वही है किन्तु उत्पत्ति और आदर्श में भेद है

यों तो प्रायः सभी देशों में वृद्ध-स्त्रियाँ संध्या समय बैठ कर बालकों को अनेक प्रकार की शिक्षाप्रद अथवा कुतूहलवर्धक कहानियाँ सुनाया करती हैं, और आजकल की आख्यायिका भी एक प्रकार से उन्हीं का संशोधित तथा परिमार्जित रूप हैं। किन्तु "शिक्षाप्रदता" तथा "कुतूहलवर्धकता" इन दोनों प्रेरक कारणों में किसी प्रकार का अन्तर न आने पर भी वर्तमान युग की कहानियों की उत्पत्ति तथा आदर्श दोनों में भारी भेद आ गया है।

प्राचीन कथा और आधुनिक कहानी के दो विपरीत स्रोत

पाश्चात्य सभ्यता का जीवन-संघर्ष के साथ समवाय सम्बन्ध सा है। प्राच्य सभ्यता में शान्ति है तो इसमें क्रियात्मकता। पहली में इच्छा तथा आवश्यकताओं का दमन है तो दूसरी में उनका उपभोग और अभिवृद्धि। इसीलिए जहाँ प्राच्य सभ्यता में भौतिक उद्योगों की न्यूनता अभीष्ट है, वहाँ पाश्चात्य सभ्यता में उनकी प्रचुरता। और इन दोनों ही बातों में प्राचीन तथा आधुनिक कथाओं का आविर्भाव है।

भारत में जीवन की सामग्री अनायास ही प्रचुर मिल

प्राचीन कथा का उद्भव भारत में क्यों हुआ ?

जाती थी। यहाँ सोम था, घृत था, दुग्ध की धाराएँ थीं, फलों के उपवन थे। कपड़ों की माँग न थी, पक्के महलों की आवश्यकता न थी; उनकी प्राप्ति के लिए वैज्ञानिक उद्योगों का जगड्वाल न था। जनता को अवकाश था। अवकाश में ऋषि लोग आत्मचिंतन करते थे, यज्ञ रचते थे, और मनबहलाव तथा शिक्षा के लिए भाँति-भाँति की कथाएँ गढ़ते थे। इन कथाओं में प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक का मेल था। भारत सदा से जीवन की अनन्तता तथा पुनर्जन्म को पूजता आया है। उसकी दृष्टि में मनुष्य खोटे कर्म करके पशु बन सकता है और पशु स्वच्छ कर्म करता हुआ मनुष्य बन सकता है। जीवन की इस समष्टि-दृष्टि के कारण हम अपने यहाँ पशु-पक्षियों को भी मनुष्य की भाँति बातचीत करता हुआ तथा जीवन की रंगस्थली में भाँति-भाँति के नाटक खेलता हुआ पाते हैं

इस प्रकार की कथाओं का भारत आदि स्रोत है और पंचतन्त्र की कथाओं का संसार की सभी भाषाओं में अनुवाद होना इस बात का समर्थक है।

आधुनिक कहानियों का उद्भव पश्चिम में क्यों हुआ ?

दूसरी प्रकार की कहानियों का अर्थात् "आधुनिक कहानियों का" मूल पश्चिम है, जहाँ जीवन का संघर्ष तीव्रतर है और उसमें सफल बनने के लिए प्रकृति को जीतने के अगणित वैज्ञानिक उपाय निकाले गये हैं। संघर्ष-संकुल पाश्चात्य व्यक्ति को कविता पढ़ने की फुर्सत नहीं, लंबे-लंबे नाटक देखने का अवकाश

नहीं । उसने मनोरंजन के लिए लंबे थियेटरों को भगा स्वल्पकालिक सिनेमा का आविष्कार किया है। उसे लंबे-लंबे उपन्यास पढ़ने का अवकाश नहीं, उसने अपने मनबहलाव के लिए कहानी का सूत्रपात किया है। पाश्चात्य व्यक्ति को अपने समाज तथा अपने पेट से फुर्सत नहीं। फलतः उसके समस्त साहित्य में सामाजिक विवेचना की गूँज है। उसकी कथा-कहानियों में मनोरंजनता की न्यूनता नहीं, किन्तु उनमें सामाजिक विवेचन आवश्यक है। पाश्चात्य सभ्यता प्रवीणता की पुजारी है। उसने हर बात को वैज्ञानिक बना दिया है। फलतः उसकी कहानियों में कला है, उनमें सत्य का मौलिकता के साथ अंकन है; उनमें सत्य, वास्तविकता, और ज्ञान मिलकर एक हो गये हैं। इस प्रकार हमने संक्षेप में देखा कि जहाँ प्राचीन कहानियों का स्रोत पूर्व से पश्चिम की ओर बहा, वहाँ आधुनिक कहानियों का स्रोत पश्चिम से पूर्व की ओर बहा।

हिन्दी में आधुनिक कहानियाँ कहाँ से आई ?

हिन्दी में आधुनिक कहानियाँ लिखने की प्रथा बँगला से आई और बँगला ने यह कला अँग्रेज़ी से सीखी। बंगालियों में इस कला का सूत्रपात पहले होना आवश्यक था। अँग्रेज़ पहले-पहल वहीं प्रतिष्ठित हुए थे और उनके साहित्य का पहले-पहल वहीं प्रसार हुआ था। हिन्दी साहित्य अभी तक पुरानी लकीर का फकीर था। अंग्रेज़ों की प्रेरणा तथा बंगालियों के संसर्ग से उसमें नवीनता आई और नवीन कलाओं का विकास हुआ।

वास्तव में उपन्यास तथा आख्यायिका के मूलतत्त्व एक हैं। अतः इन पर संक्षिप्त विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

वृत्तात्मक साहित्य के अंग

वृत्तात्मक काव्य के निम्नलिखित ६ तत्त्व होते हैं:—

१. उपन्यास-वस्तु = प्लॉट
२. पात्र
३. कथोपकथन
४. देशकाल = वातावरण
५. शैली
६. उद्देश्य

१. उपन्याम-वस्तु अथवा प्लॉट उन समस्त घटनाओं की व्यवस्थित समष्टि है, जिनका दर्शन हमें उपन्यास या कथा में होता है; अर्थात्—वे घटनाएँ जो सहन या संपादित की जायँ।

२. इन बातों को सहते अथवा करते हुए, इनकी शृंखला को स्थिर करने वाले मनुष्य पात्र कहाते हैं।

३. पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप को कथोपकथन कहते हैं। कथोपकथन का चरित्र-चित्रण के साथ घनिष्ठ संवंध है।

४. ये व्यापार तथा घटनाएँ किसी समय या स्थान में होती हैं, जिसमें और जहाँ पात्रों को अपना कार्य करना और सुख-दुःख भोगना पड़ता है। इसे देशकाल अथवा वातावरण कहते हैं।

९. रचना चमत्कार का नाम शैली है। उपन्यास और कहानी में लेखक अपने यथार्थ तथा काल्पनिक अनुभवों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रगट करता है। इसके निमित्त वह घटनाओं के क्रमिक विकास, पात्रों के राग-विराग आदि के प्रदर्शन, और वस्तु-निर्देश को अपनी बुद्धि के अनुसार इस प्रकार रखता है जिससे वह अपने अनुभवों, और जीवन के लक्ष्य को भली-भाँति प्रकट कर सके। इस प्रयो-जन से की गई शब्द-योजना वाक्यांश-प्रयोग; वाक्य-निर्माण और उनकी ध्वनि आदि ही का नाम शैली है।

जीवन की रागात्मक व्याख्या का नाम साहित्य है।

उद्देश्य

उपन्यास और कहानी भी साहित्य के अंग हैं। फलतः मनोरंजन के साथ-साथ जीवन की व्याख्या करना भी उनका उद्देश्य है।

आइये, अब उक्त तत्त्वों पर कुछ विस्तृत विचार करें। सांसारिक जीवन अनेक अवस्थाओं मे विभक्त है। एक स्थान पर विभूति है तो दूसरे में पराभूति। एक घर में सौभाग्य का नवल वसन्त है तो दूसरे में यातनाओं का कठोर शिशिर। एक व्यक्ति अभ्युदय के उत्तुङ्ग शिखर पर विराजमान है तो दूसरा अधःपतन की निम्नतम तली पर हाहाकार कर रहा है। कहीं राजनीति की धूम है तो कहीं आध्यात्मिकता के राग। कहीं वेदान्त के आदर्शवाद हैं तो कहीं अर्थशास्त्र की उपपत्तियाँ। आशय यह, कि मकड़ी के इस जाले में अगणित तन्तु हैं; इनमें से किन्हीं भी तन्तुओं को लेकर कलाकार

अपना बटुआ तैयार कर सकता है। किन्तु इन तन्तुओं में कुछ एक-देशीय हैं; उनके विना जाला बना रह सकता है। दूसरे सर्वाङ्गीण हैं; उन पर जाले का सर्वस्व निर्भर है। चतुर कलाकार सर्वाङ्गीण तन्तुओं को लेकर अपनी कृति प्रस्तुत करता है। उसकी वीणा में विश्वव्यापी राग का आलाप होता है। उसके गीतों में सुख-दुःख, राग-द्वेष, दया-क्रूरता, आदि द्वन्द्वों का समाहार होता है। और यह भाव प्रत्येक मनुष्य के अपने होने पर भी सब की समान संपत्ति हैं। वस्तुतत्त्व की दृष्टि से यह बात उतना महत्त्व नहीं रखती कि कलाकार जीवन के किस पहलू की व्याख्या करता है जितना कि यह कि वह जीवन के किन-किन विश्वव्यापी भावों का किस प्रकार अभिनय करता है।

वस्तुतत्त्व की सत्यता

कहानी का मुख्य आधार कल्पना है। कल्पना का क्षेत्र असीमित है। सम्भव, असम्भव, प्राप्य अप्राप्य, सुखान्वित, दुःखान्वित, सभी प्रकार के क्षेत्रों में कल्पना स्वच्छन्द विहार करती है। मनुष्य अपनी कल्पना के आधार पर ऐसे स्वर्ग की उद्भावना करता है जहाँ सदा यौवन की उमंगें हैं; जहाँ प्रेम है, प्रेम की पीर नहीं; जहाँ विभूति है, पराभूति नहीं; जहाँ सौन्दर्य की उपासना है, अवधीरणा नहीं। मनुष्य पक्षियों को आकाश में उड़ता देखता है। मछलियों को पानी में रमता देखता है। वह स्वयं दोनों में से एक काम नहीं कर सकता, किन्तु वह एक ऐसी परी की कल्पना करता है जो

दोनों कलाओं में प्रवीण है; जिसमें प्रवीणता और अभिरामता का मंजुल समाहार है। यह परी कल्पना की पुतली है। कल्पना की पुतलियों के आधार पर वृत्त लिखे जाते रहे हैं और उनसे जनता का मनोरंजन भी होता रहा है। किन्तु आधुनिक युग का व्यक्ति अपने सुख-दुःख, अपने उत्थान और पतन, और इन सब बातों की समष्टि तथा कारणरूप समाज के विवेचन में इतना अधिक व्यग्र है कि उसे अन्य बातों पर विचार करने का अवकाश ही नहीं। फलतः आज कल ऐसे उपन्यास और कहानियों की माँग है जो यथार्थ जीवन के प्रतिबिम्ब हों, जिनमें मनुष्य के आन्तरिक तथा बाह्य जगत् का सच्चा चित्रण हो, जिनमें उसकी वाह हों, जिनमें उसकी आह हों, जिनमें उसकी केलि हो, जिनमें उसकी अवहेलना हो। इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कलाकार उन्हीं बातों का, उन्हीं भावभंगियों का वर्णन करे जो उसने स्वयं अनुभव की हों, जो उसने स्वयं देखी हों। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह कल्पना का एकान्ततः तिरस्कार कर दे और अपने "नीरस" अनुभवों का पिष्टपोषण करता रहे। उसे भौतिक साक्षात्कार के साथ काल्पनिक साक्षात्कार करने का पूर्ण अधिकार है; वह अपने मानसिक जगत् को बना सकता है और उसकी व्याख्या कर सकता है; किन्तु यह मानसिक जगत् दृश्य जगत् की प्रतिच्छाया होनी चाहिए, इसका प्रतीकरण नहीं; इसकी प्रतिध्वनि होनी चाहिये, इसका प्रतीप नहीं।

वस्तुतत्त्व की मौलिकता

मौलिकता वास्तव में, नया वस्तुतत्त्व गढ़ने में अथवा एकान्ततः नवीन घटनावली के ढूँढ़ निकालने में नहीं है, क्योंकि प्लॉट वृत्त की आत्मा नहीं, और उसी में उसकी इतिश्री नहीं। एक अंग्रेजी कहावत के अनुसार संसार में केवल सात मूल कहानियाँ है। भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा घुमा फिरा कर, नई-नई संवेदनाओं के साथ, असंख्य रूपों में हमारे सामने लायी जाती हैं। मौलिकता संवेदना की है, अनुभूति-प्रकाशन की है, उत्थान और पतन के व्यवस्थित संप्रदर्शन की है। एक ही कथा भिन्न-भिन्न संवेदनाओं के रंग में रँगी जाकर नया चोला पहन लेती है।' प्लॉट तो रंगरहित पानी है। उसमें संवेदना का जो भी रंग पड़ जाता है वह उसी रंग का हो जाता है। प्लॉट को एक प्रकार का रंग भी कह सकते हैं, जिसके सहारे चतुर कलाकार अपनी तूलिका से जैसे और जितनी प्रकार के चाहे चित्र बना सकता है।

वस्तुतत्त्व की क्रमबद्धता

क्रमबद्धता वस्तुतत्त्व का आवश्यक गुण है। इसके सहारे वृत्त की घटनावली, कार्य-कारण-परंपरा से पाठक के मन को अपने वश में करती चली जाती है। घटनाओं का क्रम ऐसा होना चाहिए कि एक घटना पहली घटना की अनिवार्य प्रसूति प्रतीत हो, और अपने से परवर्ती घटनाओं का प्रसव सिद्ध होती हो। यह क्रम गतिशील होना चाहिए, इसमें त्वरा होनी चाहिये। इस शृङ्खला का प्रत्येक जुज़ सोद्देश्य और सारगर्भित होना चाहिये। प्रत्येक जुज़ मुख्य

संवेदना को अभिव्यक्त करता हो, उसे स्पष्ट नहीं। वह उसके परिपाक की ओर संकेत करता हो, उसका व्याख्यान नहीं। घटनाओं की गति-शीलता का प्रभाव यह होता है कि यद्यपि घटनाएँ एक-एक करके पाठक की दृष्टि से तिरोहित होती जाती हैं तथापि उनका प्रभाव अन्त तक बना रहता है और घटनाओं की सूचकता का परिमाण यह होता है कि वे क्रमशः संवेदना को उत्कृष्ट करती जाती हैं, और पहले ही उसका व्याख्यान कर वृत्त को नीरस नहीं बना देतीं।

पात्र

पात्रों के लिए आवश्यक है कि वे सजीव स्त्री-पुरुषों की भाँति अपनी भूमिका संपादित करते हों। वे अपनी माननीय स्थिति को हमारे मन पर अंकित करते हों। इसके विपरीत यदि वे सांसारिक जीवों से भिन्न प्रतीत हुए, उनकी शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक विभूतियाँ अलौकिक प्रतीत हुईं तो पाठक की उनके साथ समवेदना स्थापित न हो सकेगी और वह उनके कृत्यों से प्रभावित न हो सकेगा।

पात्र और संवेदना

जिस प्रकार प्लाट की समस्त घटनावली अन्त में एक ही मुख्य संवेदना को उद्दीप्त करने में अग्रसर होती है उसी प्रकार विविध पात्रों की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसी केन्द्र के अभिमुख रहती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनके चरित्र का निर्माण करती है। इससे परिणाम निकलता है कि जिस प्रकार प्रौढ कृति में एक भी अनावश्यक घटना का वर्णन नहीं होता उसी प्रकार उसमें एक भी

अनावश्यक पात्र का प्रवेश नहीं हो पाता। वृत्तरूपी पुल का प्रत्येक पुरजा सार्थक है; वह एक दूसरे को सहायता देने वाला है; उसको थामने वाला है।

वस्तु और पात्र का सम्बन्ध

कुछ वृत्तों में पात्रों की प्रधानता रहती है और व्यापार-शृंखला को गौण स्थान दिया जाता है, और कुछ में घटनावली को प्रधानता देकर पात्रों का उपयोग घटनाचक्र को सुचारु-रूप से चलाने के लिए किया जाता है। अपने-अपने स्थान पर दोनों प्रवृत्तियाँ श्रेय हैं। वह कलाकार—जो मनुष्य के व्यक्तित्व तथा महत्त्व को पहचानता है, जिसे भरोसा है कि मनुष्य अपने वातावरण की "दारुजोसित" नहीं, प्रत्युत उसका गढ़ने वाला है, पहले मार्ग का अनुसरण करता है, और वह कलाकार—जो दैव के दुर्दान्त चक्र को परख चुका है, जिसने पहचान लिया है कि साधु और असाधु दोनों समान रूप से नियतिपक्षी के चंगुल में फँसे हुए हैं, जिसने देख लिया है कि जीवन और मरण दोनों एक ही लोकालोक के दो पार्श्व हैं, वे अकाट्य हैं, अमिट हैं, पत्थर के लेख हैं—घटना-चक्र को प्रधानता देता हुआ पात्रों को उसका एक प्रकार से शिकार बनाता है। दोनों दृष्टिकोण सत्य हैं, किन्तु दोनों ही पूर्ण सत्य नहीं। दोनों के सामञ्जस्य ही में कलाकार की पटुता है।

कथोपकथन

जहाँ तक हो सके चरित्रों का प्रकाश स्वयं पात्रों द्वारा होना चाहिये; उनकी बातचीत के द्वारा अथवा उनकी कृतियों के द्वारा। पात्र स्फूर्ति-

मान् होने चाहियें, स्पंदन की पुतलियाँ होने चाहियें, तुन्दिल नहीं, बलिक छलाँग भरते, उछलते-कूदते होने चाहियें। इस दशा में वे बोल उठेंगे, खेल पड़ेंगे, और अपनी भावभंगी को अपनी कनखियों पर नचा देंगे। कथोपकथन इसी का नाम है। हमें जीवन में लोगों के चरित्रों का उनकी वाणी तथा कर्मों से आभास होता है; काव्य में भी इसके द्वारा हम पात्रों की नस-नस को पहचान जाते हैं; उनकी सजीवता तथा वास्तविकता को भरी आँखों ताड़ लेते हैं। इससे काव्य चटकीला बन जाता है; कलाकार के चार चाँद लग जाते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि लेखक पात्रों के विषय में कुछ भी कहने की कसम खाले। वह उनके चरित्र को उद्भासित करने के लिए बहुत कुछ कह सकता है, चरित्ररूपी घनमंडल में वर्णनरूपी तडित्तूलिका खींच सकता है; किन्तु जहाँ तक हो सके उसे इस काम में अभिनय अथवा कथोपकथन का सहारा लेना चाहिये। और यदि ऐसा करने में उसने स्वाभाविकता को अपनाये रक्खा तो सोने में सुगंध है।

वातावरण या परिस्थिति

वातावरण भी वृत्त का आवश्यक अंग है। घटना किसी स्थान और समय में होती हैं, उन्हें घटानेवाले पात्र किसी स्थान और समय में होते हैं। और इन्हीं दोनों बातों से उनकी वेषभूषा आदि का निश्चय होता है। फलतः जब कोई कलाविद् अपने पात्रों से कार्य कराता है तब वह उन्हें समुचित वातावरण में रखता है, उन्हें उपयुक्त घटनास्थल में ले जाता है और उन्हें

उपयुक्त वेषभूषा और रूप तथा आकार से दीक्षित करता है। परिस्थिति का संवेदना के साथ उतना ही संबन्ध है जितना कि घटना और चरित्र का; क्योंकि परिस्थिति घटना और पात्र दोनों ही का आधार है।

ऐतिहासिक वृत्तों के निर्माण में देश और काल का बहुत अधिक ध्यान रखना पड़ता है; क्योंकि उनमें लेखक को किसी विशेष युग अथवा काल का चित्र अंकित करना होता है। कुछ उपन्यासों का तो स्वयं ऐतिहासिक घटनाओं से ही संबन्ध होता है, किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जिनकी कथा का इतिहास से किंचित् ही संबन्ध होता है और जिनमें किसी ऐतिहासिक काल के सामाजिक अथवा किसी अन्य प्रकार के जीवन का चित्र रहता है। इस प्रकार के उपन्यास लिखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि लेखक उस समय से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य-मुख्य सभी आवश्यक बातों से भली भाँति परिचित हो। ऐसा किये विना वह सिद्धहस्त कलाकार कदापि नहीं बन सकता।

उद्देश्य

उद्देश्य से हमारा अभिप्राय जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से है। उपन्यास अथवा कहानी का भी प्रमुख उद्देश्य यही है कि वे व्यक्ति तथा समाज के हावभाव, पारस्परिक संबंध और उत्थान तथा पतन की अथवा इनके किसी अंश या अंशों की रागात्मक व्याख्या करें।

कुछ लोगों का विचार है कि उपन्यास और कहानी केवल मनोरंजन के साधन हैं; उनमें शिक्षा तथा सिद्धान्तों का ढूँढना अन्याय है। सामान्य कोटि की कृतियों के विषय में

यह बात भले ही सत्य हो, किन्तु उत्कृष्ट कृतियों का एकमात्र केन्द्र जीवन है, और जीवन की किसी एक पगडंडी पर प्रकाश डालना उनका उद्देश्य होता है।

किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि लेखक अपनी कृति को नैतिक आदर्श तथा मन्तव्यों की पिटारी बना दे, उसमें धार्मिक व्याख्यानों की धूम मचा दे। ऐसा करना कविता कामिनी को प्लेटफार्म की प्रचारिका बना देना है। उसके मंजुल सौन्दर्य को उद्धत तथा बाजारू बना देना है।

साहित्य का ध्येय जीवन का व्याख्यान है, किन्तु उस व्याख्यान की अन्तस्तली में ऐसी कूक होनी चाहिये जो सहृदयों के हृदयों में चुभ जाय, "गँस" जाय; ऐसी मोहिनी होनी चाहिये जो पाठक को मुग्ध कर दे, ऐसी कमनीय संसूचना होनी चाहिये जो तत्वो-मुख प्रणयिनी के प्रेमालाप की भाँति सत्यता के मार्ग में प्रदीप का काम दे जाय। कला का चरम विकास इसी में है।

उक्त बातें सब प्रकार के वृत्त काव्यों में सामान्य हैं। नाटक, प्रबन्ध-काव्य, चम्पू आदि सभी में इनका थोड़ी बहुत मात्रा में संनिवेश रहता है। अब हम विशेष रूप से कहानी के आकार और उसकी विशेषताओं पर विचार करेंगे।

उपन्यास की अपेक्षा कहानी का आकार छोटा होता है

हम ने कहा था कि आख्यायिका ऐसे गद्य कथानक को कहते हैं जो घंटे दो घंटे के भीतर पढ़ा जा सके; अर्थात् ऐसी कहानी जो, अवकाश के समय एक ही बैठक में समाप्त हो जाय। इस कथन का अभिप्राय केवल कहानी की आकार-लघुता से है। इसमें संदेह नहीं कि

जहा एक ओर पचीस तीस पृष्ठों के उपन्यास लिखे जा सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर मोपासाँ ने य्वेटे (Y-vetc) जैसी सौ-सौ पृष्ठ की कहानियाँ भी लिखी हैं; किन्तु फिर भी आकार की दृष्टि से उपन्यास की अपेक्षा कहानी को कहीं अधिक नियन्त्रित रहना पड़ता है। उपन्यास की गति अनियन्त्रित है, कहानी में नियंत्रण है, त्वरा है। उपन्यास हजारों पृष्ठों का हो सकता है, किन्तु कहानी इतनी बड़ी नहीं हो सकती।

कहानी का मूल सिद्धान्त

आख्यायिका का उद्देश्य अथवा आधार-भूत सिद्धान्त एक होना चाहिये और आदि से अंत तक उसी उद्देश्य अथवा सिद्धान्त को ध्यान में रख कर, उसी का परिपोष तथा परिपाक करने के लिए आख्यायिका लिखी जानी चाहिये। उपन्यासों में अनेक सिद्धान्त होते हैं, अनेक आदर्शों की संसूचना होती है, अनेक संवेदनाओं की चसक होती है, किन्तु आख्यायिका में मुख्य विचार अथवा संवेदना केवल एक होती है और वह भी प्रायः प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट। कहानी के बीच में ऐसी कोई "चोट" नहीं पड़नी चाहिये जिससे पाठक का ध्यान मुख्य संवेदना से हट कर दूसरी ओर चला जाय।

उपन्यास में संवेदना नहीं प्रत्युत संवेदनाएँ होती हैं; उसमें एक चोट नहीं, चोटों की चीत्कार होती है। उपन्यासकार प्रधान तथ्य तक पहुँचते-पहुँचते अनेक तीव्र संवेदनाओं का अनुभव कर चुका होता है। उस पर उन चीसों का इतना गहन प्रभाव होता है कि वह उन्हें पाठक के संमुख रखने पर बाध्य हो जाता है। फलतः उपन्यासकार की कृति,

संवेदनाओं का हार बन जाती है, वह मुख्य संवेदना का व्याख्यात्मक इतिहास बन जाती है, और यह व्याख्या ही संवेदना की उत्तुंगता को, उसकी एकान्तता को निर्बल बना देती है, इसके विपरीत कहानी में प्रारंभ से लेकर अन्त तक एक ही संवेदना का साम्राज्य रहता है; उसके अविरुद्ध मार्ग में छोटी-छोटी घटनाएँ दीपक का काम देती हैं; स्वयं दृश्य का नहीं; ये उसमें मीलदर्शक पत्थर हैं, जो कुछ न करने पर भी यात्री को भारी सहायता पहुँचाते हैं। इस बात को हम पं० रामकृष्ण शुक्ल के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—

"उपन्यास में व्याख्या और चरम तथ्य समाहार-रूप से आपस में मिलकर घटनाओं या चरित्र का एक आद्यन्त सरूप वातावरण उपस्थित करते हैं, जिसमें पृथक्-पृथक् संवेदनाएँ मिलकर पाठक के ऊपर झरने या फव्वारे का सा एक सामूहिक प्रभाव डालती रहती हैं। कहानी में सामूहिक प्रभाव अनावश्यक ही नहीं, बल्कि उसकी संवेदना की तीव्रता में बाधक होने के कारण दूषित भी है, इसमें नल की एक सुकुमार धारा सीधी आपके मस्तिष्क के ऊपर गिरती है, जिसकी केन्द्री-भूत शीतलता से अन्य अङ्गों की संवेदनाएँ अभिभूत होकर स्वयं उसी में अन्तर्हित हो जाती हैं।"

कहानी का संक्षिप्त आकार और उसके उद्देश्य से ही उसके मार्ग का भी निर्धारण हो जाता है।

कहानी की प्रणाली

आजकल उपन्यास के प्रधान अंग चरित्र-चित्रण और प्लाट हैं। चरित्र-चित्रण की मुख्य शर्त चरित्र-विकास है और प्लाट की

मुख्य शर्त घटनावली की समुद्भावना। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वातावरण की एक प्रकार से स्वाधीन सत्ता हो जाती है। कभी-कभी उपन्यासों में वातावरण का इतना विस्तृत अंकन होता है कि वह पाठक की आँख को पकड़ लेता है और वह किंचित् काल के लिए संवेदना को भूल सा जाता है।

कहानी का वातावरण

इसके विपरीत कहानी का वातावरण कहानी की सूक्ष्मतर आधार-भूत आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त किसी प्रकार भी स्वतंत्र रूप नहीं धारण कर सकता। जहाँ मुख्य संवेदना की तीव्रतमता का उद्भावन ही एक-मात्र ध्येय हो वहाँ वातावरण की स्वतंत्र सत्ता हो भी कैसे सकती है।

कहानी तथा प्लाट

प्लाट के संबंध में भी उक्त बात लागू है। कहानी में एकान्ततः उन्हीं घटनाओं का समावेश होना चाहिये जो संवेदना की उत्तुङ्गता को अभिव्यक्त करती हों। किन्तु जासूसी, साहस-विषयक, अद्भुत विषयक और ऐतिहासिक कहानियों में प्लाट के विषय में इतना अधिक नियंत्रण नहीं रक्खा जाता जितना कि देश और काल के विषय में ऊपर बताया गया है।

कहानी तथा चरित्र-चित्रण

उपन्यास में सर्वाङ्गीण जीवन का व्याख्यान होता है। उसमें अनेक प्रकार की परिस्थितियों और तज्जन्य घटना-शृङ्खला, चरित्र-भेदों और चरित्र-समष्टि का संनिवेश रहता है। कहानी उपन्यास से भिन्न वस्तु है। उसमें चरित्र-चित्रण के लिए अवकाश नहीं के बराबर है।

सामान्य जनता भौतिक उत्तेजनाओं की चितेरी है, फलतः उसमें घटना-प्रधान कहानियों का प्रचुर आदर है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन कहानियों का प्रभाव चिरस्थायी बना रहे और ये विश्वसाहित्य में अपना स्थान सदा के लिए बना लें। इसके विपरीत हम देखते हैं कि भौतिक उत्तेजनाओं की शान्ति के साथ ही उनके बल पर विचरने वाली कहानियाँ भी निष्क्रिय हो जाती हैं।

उत्कृष्ट कहानी

जगत् हमारे आत्मा का स्वप्नमय पसारा है; यह उस अखण्ड प्रकाश की चिनगारियों का समाहार है; उनका चलायमान वृत्त (Aureole) है। इसकी अपनी सत्ता कोई नहीं। अन्तर्जगत् के व्यापार देश और काल के व्यावहारिक वातावरण पर प्रतिफलित होकर इस प्रकार फैल जाते हैं जैसे पानी पर तेल-बिन्दु फैलते हों। पानी पर नितराती हुई मेचकित रेखाएँ पानी की अपनी संपत्ति नहीं, प्रत्युत तैल-बिन्दु की हैं; इसी प्रकार बाह्य जगत् में दीख पड़ने वाला घात-प्रतिघात स्वतंत्र वस्तु नहीं, प्रत्युत आत्मा के भीतर अनवरत होने वाले उत्थान और पतन का प्रतिफलनमात्र है—प्रतिबिम्बमात्र है। जो कलाकार आन्तरिक जगत् की सूक्ष्म घटनाओं को स्थूलता का जामा पहना कर उनके उत्थान और पतन को जगत् के संमुख नचा देता है वही चतुर है, वही परमार्थदर्शी है। उसकी कृति को प्रचुर घटना-चक्र की अपेक्षा नहीं, उसके चित्र को विस्तृत वातावरण की माँग नहीं। इस प्रकार की कहानियाँ संसार में न्यून हैं और आधुनिक भारत में रवीन्द्रनाथ के अतिरिक्त और किसी ने नहीं लिखीं।

कहानी में व्यञ्जना

ऊपर संकेत किया गया था कि उत्कृष्ट कहानी में प्लाट और चरित्र अस्पष्ट रूप से विद्यमान रहते हैं। इस अस्पष्ट को स्पष्ट करने के लिए कलाकार को थोड़े से थोड़े स्थान में अधिक से अधिक व्यंजनाओं के दीपक जलाने पड़ते हैं। इन दीपों की रश्मियों में प्लाट और चरित्र की भित्ति इस प्रकार भासती है जैसे गंगा के निर्मल जल-प्रवाह में उसकी सिकतामयी तली भासती हो।

कहानी में निरर्थक प्रसङ्गों का निषेध

हमने कहा था कि उपन्यास की अपेक्षा कहानी कहीं अधिक संक्षिप्त होती है। फलतः एक भी शब्द या वाक्य निरर्थक नहीं होना चाहिए। प्रायः कहानी का पहला प्रबन्ध ही लेखक की सामर्थ्य को सूचित कर देता है। यदि प्रथम वाक्य लेखक के उद्देश्य तथा उसकी संवेदना का सूचक नहीं तो वह निरर्थक है। आदर्श कहानी के शीर्षक तक में फड़कन होती है; जीवन होता है। जिस शीर्षक को पढ़ कर पाठक भ्रम में पड़ जाय वह कहानी की दृष्टि से दूषित होता है। इस विषय में एक विद्वान् का मत है:—

"कुशल लेखक बहुत अच्छी तरह विचार करके यह निश्चय करता है कि पाठकों के हृदय पर मेरी रचना का अमुक प्रकार का प्रभाव पड़े; और तब उसी प्रभाव या परिणाम पर ध्यान रखकर वह ऐसी घटनाओं की रचना करता है जो अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करने में सब से अधिक सहायक होती हैं। यदि उसके प्रारंभिक वाक्य से ही उस परिणाम

का आरंभ न हो तो समझना चाहिये कि पहले ही ग्रास में मक्षिकापात हो गया। सारी रचना में एक भी शब्द ऐसा न होना चाहिये जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष-रूप से पाठकों को उस अभीष्ट परिणाम अथवा प्रभाव की ओर अग्रसर न करता हो। इतने ध्यान, इतने कौशल और इतने साधनों से अन्त में जो चित्र प्रस्तुत होता है वही विचारशील और कलाकुशल प्रेक्षक को पूर्णरूप से संतुष्ट कर सकता है। बस यही कहानी का शुद्ध और स्वच्छ रूप है और यह रूप उपन्यास को नहीं प्राप्त हो सकता।"

कहानी में कथोपकथन

वातावरण तथा प्लाट की नाईं कहानी में वार्तालाप अथवा कथोपकथन को भी नियंत्रित रहना पड़ता है। जिस प्रकार आरंभ में उसी प्रकार अन्यत्र भी, उसमें कोई वाक्य निरर्थक नहीं होना चाहिये। किसी पात्र के मुँह से कहलाया गया एक भी वाक्य उस पात्र के उतने चरित्र और उस की उतनी परिस्थिति का द्योतक होना चाहिये जितनी का कहानी की संवेदना के साथ संबंध है। कहानी में कथोपकथन का होना आवश्यक है। यह भिण्डी का वह पानी है जो पकते रस में पड़ते ही उसे स्फीत बना देता है; उत्कृष्ट बना देता है। इसके द्वारा कहानी आँखों में फिर जाती है और प्लाट छलाँगें भर कर आगे बढ़ने लगता है। किन्तु स्मरण रहे कथोपकथन के समुचित प्रयोग में कलाकार की परीक्षा है।

कहानी का आरंभ तथा अंत

कहानी के आरंभ तथा अंत दोनों ही में कलाकार को तीव्र बुद्धि से काम लेना पड़ता है। इसके विषय में किसी प्रकार के निश्चित नियम बनाना असंभव सा है। जिस कहानी में, अन्त होने से पहले ही, पाठक को उसके परिणाम का ज्ञान हो जाय उसमें कला का अभाव होता है। इसीलिए जनता में ऐसी कहानियों का अधिक आदर होता है जिनका परिमाण आकस्मिक-सा हो, किन्तु यह आकस्मिकता अस्वाभाविक नहीं होनी चाहिये।

भिन्न-भिन्न देशों में कहानियों के लेखक

कहानी के उक्त विवेचन के पश्चात् उचित प्रतीत होता है कि मुख्य-मुख्य देशों के प्रमुख वृत्त लेखकों का दिग्दर्शन करा दिया जाय। इस दृष्टि से हम इंग्लैंड को पहले लेंगे; क्योंकि हमने यह संपत्ति अंग्रेज़ों से ली है। अंग्रेज़ी कथा-साहित्य के प्रमुख रत्न टामस हार्डी, ऑस्कर वाइल्ड, हॉलकेन तथा बर्नर्ड शा को बताया जाता है। टामस हार्डी अपने युग का सर्वश्रेष्ठ वृत्त-लेखक हुआ है। बर्नर्ड शा वर्तमान संसार के सर्व-प्रिय और प्रतिभाशाली लेखक हैं। जॉन गाल्सवर्दी, जिन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था और जिनकी हाल ही में मृत्यु हुई है श्रेष्ठ कथालेखक थे। इंग्लैंड के कहानी साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। (१) भाव प्रधान कहानियाँ; इनके श्रेष्ठ लेखक हार्डी थे। (२) जासूसी कहानियाँ; इनके प्रमुख लेखक कानन डायल हैं। (३) शिक्षान्वित कहानियाँ, इनके प्रमुख प्रतिनिधि एच० जी० वेल्स हैं।

वृत्त लिखने में फ्रेंच लेखकों ने ख्याति प्राप्त की है।

फ्रांस

विक्टर ह्यूगो, अलेक्झेण्डर दूमा, फ्लोबेयर, अनातोल फ्रांस, मेरिमे, और मोपाँसा वृत्त-लेखन में अपने जैसे आप हुए हैं। छोटी कहानियाँ लिखने में मोपाँसा ने नाम कमाया है। मोपाँसा की कहानियों का क्षेत्र मनुष्य की अन्तस्तली है, उसके मन की सुख-दुःखान्वित क्रीडाएँ हैं। जीवित फ्रेंच लेखकों में हेनरी वारबूसे तथा पालमोरां रमणीय हैं।

रूस

रूस में तुर्गनेव, टालस्टाय, चेखोव और दोस्तोवस्की ने कहानी लेखन में कमाल किया है। एण्टन चेखोव छोटी कहानियाँ लिखने में अप्रतिम है। उसकी अनेक कहानियों में प्लॉट नहीं किन्तु वे सजीव हैं, स्फूर्तिमयी हैं, पाठक को पकड़ लेती हैं। इनके अतिरिक्त रूस में पुष्किन, गोष्किन और गोर्की भी धुरंधर वृत्त-लेखक हैं। पुष्किन की कहानियाँ मनोरंजन की दृष्टि से और गोष्किन की कहानियाँ भाव की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। कुछ लोग कहते हैं कि गोर्की आधुनिक संसार का सर्वश्रेष्ठ जीवित कथा-लेखक है। वह क्रान्ति का पुजारी है, उसकी नस-नस में, रोम-रोम में, लेनिन का मंत्र है। सामान्यतया रूस के वर्तमान समस्त साहित्य में बोल्शेविज़्म की गन्ध है। इस उद्देश्य-पूजा तथा नीति-प्रचार में वहाँ की कला पिचरा सी गई है।

अमेरिका

अमेरिकन कथा लेखकों में वाशिंगटन इर्विंग, एडगर एलन पो, मार्क फोन ओ हेनरी, जैक लंडन, डान मार्किस और शेरवुड एंडरसन ने

अच्छा नाम कमाया है। अमेरिका संपन्न देश है, राजनीतिक देश है। अमेरिकन लोगों को ज्ञात नहीं कि दुःख कितना गहरा है, भूख में कितनी दाह है, गरीबी में कैसी आह है। उनके साहित्य में इनका चित्रण न्यून है। उनके कहानी साहित्य में हत्या, रहस्य और जासूसी बातों की भरमार है।

जर्मनी

जर्मन-कथा लेखकों में फॉन शिलर, लुडविश टीक, जेकब लुडविश ग्रिम, थियोडोर कोरनर, हैनरिश-हाइन, और हरमान सुदरमान प्रमुख हैं। जर्मनी के कहानी-साहित्य में थियोडोर कोरनर स्मरणीय है। किंतु दैव के खेल! यह केवल २१ वर्ष जीवित रहा। जर्मन कहानियाँ सरल तथा घटनापूर्ण हैं। उनमें मनोविज्ञान न्यून, सामाजिक विवेचन कम और राजनीतिक समस्याएँ अल्प हैं। इस दृष्टि से जर्मन कथा साहित्य संसार के कथा-साहित्य से भिन्न है।

भारत

भारत क्रान्ति की दशा में है। यहाँ अभी उद्बोधन है, प्रबोधन है, और है प्रभात की रंगबिरंगी बात। भारतीय जीवन के रागात्मक व्याख्यान में भी इन्हीं बातों की चर्चा है। भारत हीन है, दीन है, क्लिष्ट है, विपन्न है; फलतः इसके साहित्य में आह है, करुणा है, रुदन है, आन्तरिक हाहाकार है। भारत ने दुःख में सुख देखा है; निराशा में आशा के बीज देखे हैं, मृत्यु में जन्म का रूप पाया है; फलतः उसकी कला और कृति में आदर्शवाद है, छायावाद है। भारत के समाजिक बंधन दारुण हैं, यहाँ का पारिवारिक जीवन अजीब है, समष्ट्यात्मक

है। वर्तमान युग इन बातों से मुक्त होना चाहता है; फलतः हमारे साहित्य में सामाजिक समस्याओं की उधेड़बुन है। भारत कृषिप्रधान देश है, भारत की आत्मा ग्रामों में बसती है, वह आत्मा अपठित है, आधुनिक युग की नवीनताओं से अनभिज्ञ है, उनसे सहमती है, दुराती है; इसीलिए सभ्यसमाज से पीड़ित है; इसी लिये वह पठित व्यापारियों से सताई जाती है। फलतः सहृदय लेखक उससे समवेदना दिखाते हैं, उनकी कृतियों में उसकी तनछीन मनमलीन आत्मा का कंकाल प्रतिफलित है।

रवीन्द्र

क्लिष्ट तथा छायावादी भारत के प्रतिनिधि श्री रवीन्द्रनाथ हैं। उनकी सलोनी कृति विश्वजनीन तत्त्वों पर निर्भर है। उसमें स्थूल जगत् का सूक्ष्म जगत् में लय है। उनकी कहानियाँ संसार की संपत्ति हैं। उनमें अमर तत्त्व का उद्भावन है, इसलिये वे अमर हैं।

शरच्चन्द्र

सामाजिक जीवन के प्रतिनिधि शरच्चन्द्र हैं। उनकी कृति में भारत का पारिवारिक जीवन प्रतिफलित है। उनकी कहानियों में पारिवारिक बंधन और तज्जन्य क्लेशों का पटुतम विश्लेषण है।

प्रेमचन्द

कृषक जीवन का मार्मिक अभिनय श्रीयुत प्रेमचन्द में है। उनकी कृतियों में "छिदुवा" और "कलुआ" बेखटके "कुछ आपबीती और कुछ जगबीती" सुनाते हैं। वहाँ पटवारियों की कुर्कबाजी और थानेदारों की आततायिता का मर्मस्पर्शी चित्रण है।

इनके अतिरिक्त भारतीय कथासाहित्य में प्रभातबाबू, धूमकेतु, वामन मल्हार जोशी आदि का नाम आदरणीय है।

हिन्दी में कथा साहित्य का अभी आरंभ ही है।

आधुनिक हिन्दी कहानी

किन्तु इस आरंभिक काल ही में इसने हिन्दी जगत् पर मोहनी फेर दी है। जिधर देखो कहानियों की धूम है; पत्र-पत्रिकाओं के पन्ने भरे पड़े हैं। किन्तु इनमें से अधिकांश कहानियाँ कला से दूर हैं, कुछ में कला का आभासमात्र है, और गिनी-चुनियों में कला का वास्तविक विकास। आरंभिक काल में हुआ भी यही करता है। लेखक कलोद्भावन का कष्ट करते हैं, कला उनसे दूर भागती है, वे उसे पकड़ कर हथियाना चाहते हैं। इस खींचातानी में कभी वे सफल हो जाते हैं और कभी मुँह की खा जाते हैं। शनैः शनैः प्रयत्न करते करते, सौन्दर्योपासन करते करते, लेखक कला को रिझा लेता है, कला उसके विरह में "पिराने" लगती है, वह उसकी कृति में, उसके जाने बिना ही, पैठ जाती है। सिद्ध लेखकों की यही दशा होती है। श्रीयुत रवीन्द्र इसी दशा में हैं। हिन्दी साहित्य का कोई भी लेखक इस परिस्थिति में पहुँचा है या नहीं यह विषय विवादास्पद है। इसका निर्णय भविष्य पर निर्भर है।

हिन्दी की प्रारंभिक कहानियाँ प्रायः वर्णनात्मक श्रेणी की थीं। उनमें अलक्ष्य का संसूचन न था, उनमें कथा का समुचित नियंत्रण न था। पं० ज्वालादत्त शर्मा और पंडित विश्वम्भरनाथ कौशिक की कहानियाँ इसी प्रकार की हैं।

बंगालियों के प्रभाव से हिन्दी में छायावादोन्मुख कथा लिखने की प्रथा चली। इसमें इतना अनुभव न था जितना अनुकरण। बा० जयशंकर प्रसाद तथा पं० विनोदशंकर व्यास की कहानियाँ इसी श्रेणी में हैं।

प्रसाद और प्रेमचन्द

प्रेमचन्द्र की कृति भिन्न ही श्रेणी की है। उन्होंने अपनी कहानियों में चमत्कार का विशेष उपयोग नहीं किया। इसका आरंभ सदैव इतिवृत्तात्मक कथानक से होता है। जिस नवीनता एवं चमत्कार का दर्शन हमें "प्रसाद" की रचनाओं में होता है, ठीक उसके विपरीत इनकी रचना में मिलता है। उनकी भावव्यञ्जना में काव्यकल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता है, पर इनकी रचना मृत्युलोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र है। उनकी भाषा में उन्मुक्त, उन्माद एवं विशुद्धता दिखाई पड़ती है, परन्तु इनकी शैली में भाषा का व्यावहारिक चलता-पन विशेष उल्लेखनीय है। उनके कथानक का समारंभ कुतूहल और चमत्कार के साथ स्वाभाविकता का आधार लेकर उत्पन्न होता है और इनका जगत् की स्थूल विवेचना एवं नित्य की अनुभूतियों के आश्रय पर खड़ा होता है। एक स्वर्ग का आह्लाद-पूर्ण यौवन है और दूसरा हमारे साथ दिन रात मृत्युलोक में रहने वाला सहचर। एक में हम प्रकृति का मनोरम शृङ्गार पाते हैं; दूसरे में मानव जीवन की सहचरी समीक्षा। एक हमें स्वर्गीय मधुरता का प्रतिबिम्ब दिखाता है और दूसरा वास्तविक संसार का चित्र।

प्राचीन परिपाटी के अनुसार प्रेमचन्द हर कहानी की एक भूमिका बाँधते हैं। अंग्रेजी साहित्य में स्काट ने भी अपने ग्रन्थों की भूमिकाएँ बाँधी हैं। इससे पाठक का मन सहसा पाठ्य विषय में अनुरक्त नहीं होने पाता, और वह भूमिका ही में देर तक गोते खाता रहता है। इससे वृत्तवर्णन का आकर्षण मारा जाता है।

प्रेमचन्द ने जिस समाज का वर्णन किया है, वह दीन है, विपन्न है। उसमें उल्लास नहीं, उसमें यौवन का उन्माद नहीं, उसमें लक्ष्मी का हाव-भाव नहीं। उस समाज के साथ कवि का सच्चा अनुराग है। फलतः उसका खींचा हुआ समाज का यह चित्र, सत्य है, दीप्त है, करुण है और आँखों को भरने वाला है। दीनता के वर्णन में उनकी भाषा मार्मिक है, व्यंजक है और हृदय को बहाने वाली है।

चन्द्रधर गुलेरी

चन्द्रधर गुलेरी की "उसने कहा था" नामकी कहानी कला का भव्य उदाहरण है। यहाँ पाठक को पढ़ते ही ज्ञात हो जाता है कि उसमें कष्ट साधना का लेश नहीं और कर्तृत्व का आभास नहीं।

गुलेरी की कृतियों में प्रसंग गर्भत्व (Allusiveness) बहुत अधिक है। पूर्वापर परंपरा के अनुशीलन के बिना उनका आशय समझना कठिन है। यही कारण है उनकी कृति क्लिष्ट होने पर भी आकर्षक है, और यही कारण है कि उनकी कहानियाँ जादू की पिटारियाँ हैं। "उसने कहा था" को आद्यन्त पढ़े बिना पाठक के हाथ कुछ नहीं लगता। युद्ध में जाने वालों में अनेक मरते हैं। वे किसी न किसी के

प्राणाधार भी होते हैं, उन पर रक्त के आँसू भी बहाते हैं। अपने प्रिय जनों के लिए लोग स्वार्थ-त्याग भी करते हैं। यह सब घटनाएँ प्रतिदिन की हैं, इनमें संसूचना नहीं, संवेदना की तीव्र अनुभूति नहीं। "उसने कहा था" में गुलेरीजी ने अन्त तक आपको लहनासिंह का परिचय भी नहीं दिया। अभी तक आप कहानी को निरपेक्ष-भाव से पढ़ते हैं। किन्तु अन्त में, लहनासिंह के प्रलाप में, आपको उसके साथ अपने पूर्व परिचय की याद आ जाती है और आपके ऊपर संवेदना की पहली चोट पड़ जाती है। किन्तु चोट अभी पूरी नहीं बैठी। लहनासिंह ने दो प्रिय जनों के लिए जान दी सही, किन्तु उनसे आपका क्या सम्बन्ध? बोधा और उसके बाप को आप जानते ही नहीं। तभी आप को याद आता है कि लहनासिंह का कभी एक लड़की से साक्षात्कार हुआ था—बोधा और उसका पिता उसी लड़की के पुत्र और पति हैं। और फिर, फिर अन्तिम आघात "उसने कहा था?" बस इन्हीं दो शब्दों में कहानी की जान है। लेखक कहीं व्याख्यान नहीं करता, उसने एक अनावश्यक शब्द नहीं कहा, और पाठक, स्मृति की उत्तरोत्तर तीन धाराओं में वह संवेदन की चरम सीमा पर जा लगा।

उग्र

उग्रजी की कहानियाँ कला की दृष्टि से भले ही उत्कृष्ट न हों, उनकी भाषा शैली में नवीन युग का उत्कर्ष है, आन्दोलनात्मक उत्साह है, कथन का उच्छृङ्खल सौन्दर्य है, और भावावेश की उग्रता है। दार्शनिक और सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन इस

भाषा में भले ही न हो, परन्तु भावों के वेग का, उनकी अविरल धारा का, स्वाभाविक चित्र इनमें भली-भाँति अंकित किया जा सकता है। इसमें शांत तथा गंभीर विषयों का प्रदर्शन भले ही न हो सके किन्तु इसमें संदेह नहीं कि यह वाद-विवाद कथोपकथन, आन्दोलन तथा प्रचार के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। उग्र की भाषा समयानुकूल है, उनके पात्रों की भाषा उनकी अपनी है।

हृदयेश

हृदयेश की कथाओं में भावुकता को स्थान मिला है, किन्तु वह भावुकता उनकी वर्णनात्मक शैली के भार में दब जाती है; और घटना या चरित्र की संवेदना को तीव्र बनाने में प्रायः अशक्त हो जाती है। उनकी कथाओं में संस्कृत के अलंकार-प्रयोग और प्रकृति के लंबे-लंबे चित्र अंकित हैं; किन्तु इनका संवेदना के साथ कोई गहरा संबन्ध नहीं होता। यह सब कुछ होते हुए भी हृदयेश की कृति अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है।

रायकृष्णदास

राय कृष्णदास की रचना में परोक्ष सत्ता की अनुभूति है; उसमें परोक्ष आलंबन के प्रति प्रेमभाव का पुनीत उत्कर्ष है। उनकी कूक में हमें उस निगूढ़ आत्मानुभूति का स्निग्ध तथा भावमय निवेदन सुन पड़ता है, जिनकी "सीतल आग" हृदय को पका देती है, उसे बहा देती है, जिसके प्रज्वलित अक्षर नभोमण्डल में विद्युत् बन जाते हैं, वनखण्डों में दावाग्नि बन जाते हैं, समुद्र में वडवा बन जाते हैं, और भूगर्भ में लावा

बनकर बाहर वह निकलते हैं। इस अनुभूति से आविष्ट हुआ कवि केतकी का भ्रमर बन जाता है और उसके मुँह से यह शब्द निकल पड़ते हैं:—

रकत क बूँद कया जत अहहीं।
पदुमावति पदुमावति कहहीं॥
रहहिं न बूँद बूँद महँ ठाऊँ।
परहिं त सोइ लेइ लेइ नाऊँ॥
रोअँ रोअँ तनु ता सउँ ओधा।
सूतहि सूत बेधि जिउ सोधा॥
हाडहि हाड सबद सो होई।
नस नस माँह उठइ धुनि सोई॥

अनुभूति की इस चरम सीमा का स्फीत उद्भावन ही कवि का प्रमुख लक्ष्य है। प्रसाद, तथा रायसाहब दोनों ही में इस कला का उन्मेष है।

प्रेमचन्द की भाँति रायसाहब के यहाँ भी सांसारिक घटनाएँ हैं, यातनायें हैं, अकिंचनता है, अकिंचनता के शूलमय प्रस्तर पर मर्त्यलोक का क्लिष्ट नर्तन है, किन्तु यह सब कुछ कल्पना के कमनीय कुँजों में है, छायावाद के मंजुल उन्मेष में है, सूक्ष्म सत्ता के "लोकालोकित" प्रान्त में है। यहाँ प्रौढ़ता है, परोक्ष का आभास है, स्थूल और सूक्ष्म का मनोहारी सामंजस्य है। यहाँ हमें "दीप्तिमान नीली यवनिका के आगे सहज सस्मित भगवान् अमिताभ के दर्शन" होते हैं। इस लोक के मर्त्य की आँखों से आँसू नहीं "ममता की दो बूँद" टपकती हैं। यहाँ सूर्य सीधा

नहीं निकलता। यहाँ प्रातःकाल "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" की भाषा में नहीं होता। यहाँ तो दिन का आगमन जानकर तमोभुजंगम उदयाचल की सुनहली कंदराओं में जा छिपता है और जल्दी में उसकी मणि छूट जाती है।

रायसाहब का जगत् स्थूल होने पर भी सूक्ष्म है; भौतिक होने पर भी आध्यात्मिक है; फलतः उनकी उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं में भी अलौकिक अनुभूति है, लोकोत्तर की व्यंजना है; अनौपाधिक का अवतरण है।

इस विभूति का उन्मेष होते ही उनका वाक्यविन्यास उद्भासित हो उठता है, अनुभूति की शलाका लगते ही उनके इतिवृत्त की फुलझड़ी से नानावर्ण चिनगारियाँ झड़ने लगती हैं। उस समय आपके जगत् में "चिकनी निहाई में उस आभूषण की छाया, ब्राह्ममुहूर्त की धूसरता में उषा के प्रकाश की भाँति" झलकने लगती है। उस समय, "वह कन्या प्रभात वेला के ऐसी टटकी और कमनीय तथा स्वाति की बूँद की तरह निर्मल, शीतल, और दुर्लभ" हो जाती है।

आपके इतिवृत्तों में धारावाहिकता है। आपकी शैली में धारावाहिकता है। एक स्थान से पढ़ना आरम्भ करने पर किसी विशेष स्थान पर पहुँच कर ही पाठक की प्रगति शांत होती है।

प्रसाद तथा कृष्णदास कल्पनाक्षेत्र के चितेरे हैं। ये वे भ्रमर है जो दीखते हैं प्रसून की पंखुड़ियों

चतुरसेन शास्त्री पर बैठे हुए, किन्तु पीते हैं उसके मरन्द को, उसकी मधुमय आत्मा को। इसके विपरीत शास्त्रीजी व्यावहारिक जगत् के कलाकार हैं, उनकी पहुँच

पंखुड़ियों तक हैं; उन्होंने गुलाब के काँटे देखे हैं, पल्लव देखे हैं, उसकी अन्तस्तली नहीं, सौरभ नहीं, मकरन्द नहीं। चतुर कलाकार कथा कहता-कहता पाठक को "पार" की बता देता है। वह एक ही साँस में गगन के नक्षत्रों को सुनाता हुआ।

"वेइ सब बान ओही के हने"

कहकर पाठक को नक्षत्रों से पारवर्ती तत्व का अभ्यास दिला देता है। वह राजद्वार का वर्णन करता है, वहाँ के रागरंग की सुनाता है, वहाँ का दिन दिखाता है, वहाँ की रात जगाता है। प्रहरी हमारे संमुख आते हैं, छाया की भाँति अँधेरे में सरक जाते हैं। घड़ियाँ वजती हैं, घंटे टनटनाते हैं। सब होता है, किन्तु यह सब यामिनी का स्थूल पट है, अकाल का व्यावहारिक पसारा है। शास्त्री जी इसके वर्णन में दक्ष हैं, सच्चे हैं, किन्तु वे यहीं तक सच्चे हैं, आगे नहीं। यामिनी का आन्तरिक वैभव उन्होंने नहीं देखा। उस नीरव चर्खे के गीत में वे नहीं वहे, उस काकली को सुन न वे रोये हैं और नाहीं हँसे। वह उल्लास, वह विलास, वह अस्फुट गीत, वह उन्माद, वह करुणा और वह क्रन्दन उनके लिए नहीं बने। घड़ी के परिधानपट पर उड़ने वाले डंडों को सुनकर उनके मुँह आप ने कब सुना हैः—

परा जो डाँड जगत सब डाँडा।
का निचिंत माटी का भाँडा॥
तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ काँचे।
आयउ फिरइ न थिर होइ बाँचे॥

घरी जों भरइ घटइ तुम्ह आऊ।
का निचिंत सो अहु रे बटाऊ॥

यह उद्बोधन, यह प्रबोधन, स्थूल यामिनी का निरूपण करते-करते शाश्वत यामिनी की तली को दिपा देना, सामान्यपथ पर बीती सुनाते-सुनाते "अनन्तपथ" को आलोकित कर देना ही सच्ची कला है। यह हमें कहीं ही मिलती है; इसका प्रकाश शास्त्री जी की कथाओं में नहीं के बराबर है।

यह न होने पर भी आपकी कृति में धारावाहिकता है, व्यवहारिक तथ्य को वर्णन करने की धारावाहिकता है। आपके वाक्यविन्यास संघटित हैं, भावशृङ्खला संबद्ध है। भाषा चलती हुई है, सुबोध है, न वह विकीर्ण है और नाहीं आवश्यकता से अधिक नियन्त्रित। तत्सम शब्द हैं, किन्तु न्यून और वह भी उचित स्थान पर, सोने पर जड़ाई जैसे।

यह हुआ कहानी का संक्षिप्त निरूपण और हिन्दी कहानी की छोटी सी आत्मकथा। इस कथा में उन्हीं लेखकों के नाम आए हैं, जिनकी, भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से स्वतंत्र सत्ता है, जो समुचित भावोन्मेष के साथ-साथ किसी प्रणाली विशेष के "उपज्ञा" हैं अथवा विशेषज्ञ। कथा-निरूपण में भाषा पर विचार करना अनभीष्ट था, फिर भी मोटी-मोटी बातें आ गई हैं, जिनकी सहायता से अध्यापक छात्रों को मार्ग दर्शन करा सकते हैं। पुस्तक में और भी बहुत से लेखकों की कहानियाँ हैं, वह इस लिए कि हिन्दी के रत्न थोड़े हैं, उनमें से कुछ को भी निकाल देने पर हमारा कोष

खाली सा हो जाता है; हमारी मञ्जूषा हलकी सी पड़ जाती है। समय आ रहा है जब कि शीघ्र ही हिन्दी को किसी रवीन्द्र के दर्शन होंगे; किसी हार्डी के दर्शन होंगे, किसी गोर्की का सौभाग्य प्राप्त होगा। उस सेनानायक की वाहिनी में प्रबल योद्धा होंगे, उस कुलपति के आश्रम में अनेक वागीश होंगे, सरस्वती की उस यात्रा में अनेक अप्सरा होंगी। संसार कृतघ्न है, जैसा जीवन में वैसा ही उसके रागात्मक व्याख्यान में भी। उन योद्धाओं, उन वागीशों और उन "अप्सराओं" की मोहिनी में हम अपने निष्प्रभ चिर-संगियों को भूल जायँगे। अमिताभ भगवान् के प्रखर उन्मेष में हम इन दीपकों को नन्दित कर देंगे। उस उन्मेष में, उस प्रभात में, अप्सराओं की उस मण्डली में, यह नक्षत्र साहित्याकाश से विलीन हो जायँगे, चल बसेंगे, किन्तु किस आह के साथ! किस संवेदना के साथ!!

लाहौर
१२-९-३२

सूर्यकान्त

श्री प्रेमचन्द बी० ए०

प्रेमचन्दजी का जन्म मढ़वा-ग्राम (ज़िला बनारस) में सन् १८९० में हुआ। इनका असली नाम धनपतराय है। 'प्रेमचन्द' इनका उपनाम है, पर आजकल ये इसी नाम से विख्यात हैं और असली नाम को बहुत थोड़े लोग जानते हैं।

सन् १९०१ से इन्होंने लिखना आरम्भ किया; पहले उर्दू में ही लिखते थे, उस समय इनका उपनाम "नवाबराय" था।

वैसे तो हिन्दी में इनका पहला उपन्यास 'प्रेमा' सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ था, पर वास्तव में हिन्दी में इन्होंने सन् १९१४ से लिखना आरम्भ किया और थोड़े ही दिनों में ये इतने प्रसिद्ध हो गये कि प्रत्येक पत्र-पत्रिका और पुस्तक-प्रकाशक इनकी रचनाओं के लिए लालायित रहने लगा।

इनकी कई गल्पों के अनुवाद जापानी, अँगरेज़ी रूसी तथा कई भारतीय भाषाओं में निकल चुके हैं। ये कई वर्ष तक 'माधुरी' के सम्पादक रहे हैं, और इन दिनों बनारस से प्रकाशित होने वाले "हंस" और "जागरण" का सम्पादन करते है।

इनकी रचनाओं में वस्तु, भावावेश, भाषा, चरित्र-चित्रण और कथोपकथन सभी की प्रौढ़ता है। इस विचार से ये हिन्दी साहित्य के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं। मनुष्य की अन्तःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रिमता इनके उपन्यासों में मिलती है, वह पहले और किसी मौलिक उपन्यास-लेखक की कृति में नहीं पाई गई थी। अतएव ये औपन्यासिक-सम्राट् कहे जाते हैं।

इनकी लेखन-शैली में व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय है। भाषा सरल तथा सुबोध होती है और उसमें हिन्दी उर्दू का विचित्र मिश्रण रहता है।

इनके कई उपन्यास और दर्जनों कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिन में ये उल्लेखनीय हैं—सेवासदन, वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, ग़बन, कर्मभूमि, प्रेमप्रतिमा, प्रेमपूर्णिमा, प्रेरणा, पाँच फूल।

जुगनू की चमक

१
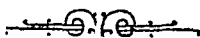
पंजावकेसरी राजा रणजीतसिंह संसार से चल चुके थे और राज्य के वे प्रतिष्ठित पुरुष, जिनके द्वारा उसका उत्तम प्रवन्ध चल रहा था, पारस्परिक द्वेष और अनवन के कारण मर मिटे थे। राजा रणजीतसिंह का बनाया हुआ सुन्दर किन्तु खोखला भवन अब नष्ट हो चुका था। कुँवर दिलीपसिंह अब इंग्लैंड में थे और रानी चन्द्रकुँवरि चुनार के दुर्ग में। रानी चन्द्रकुँवरि ने विनष्ट होते हुए राज्य को बहुत सँभालना चाहा, किन्तु वह राज्यशासन-प्रणाली न जानती थी और कूटनीति ईर्षा की आग भड़काने के सिवा और क्या करती ?

रात के बारह बज चुके थे। रानी चन्द्रकुँवरि अपने निवास भवन की छत पर खड़ी गंगा की ओर देख रही थी

और सोचती थी—लहरें क्यों इस प्रकार स्वतंत्र हैं? उन्होंने कितने गाँव और नगर डुबाये हैं, वे कितने जीव-जंतु तथा द्रव्य निगल गई हैं; किन्तु वे फिर भी स्वतंत्र हैं। कोई उन्हें बन्द नहीं करता। इसी लिए न कि वे बन्द नहीं रह सकतीं? वे गरजेंगी, बल खायेंगी—और बाँध के ऊपर चढ़कर उसे नष्ट कर देंगी। अपने जोर से उसे बहा ले जायेंगी।

यह सोचते-विचारते रानी गादी पर लेट गई। उस की आँखों के सामने पूर्वावस्था की स्मृतियाँ मनोहर स्वप्न की भाँति आने लगीं। कभी उसकी भौंह की मरोड़ तलवार से भी अधिक तीव्र थी और उसकी मुसकराहट वसंत की सुगंधित समीर से भी अधिक प्राणपोषक; किन्तु हाय अब इनकी शक्ति हीनावस्था को पहुँच गई। रोवे तो अपने को सुनाने के लिए, हँसे तो अपने को बहलाने के लिए। यदि बिगड़े तो किसी का क्या बिगाड़ सकती है और प्रसन्न हो तो किसी का क्या बना सकती है? रानी और बाँदी में कितना अन्तर है? रानी की आँखों से आँसू की बूँदें झरने लगीं, जो कभी विष से अधिक प्राणनाशक और अमृत से अधिक अनमोल थीं। वह इसी भाँति अकेली, निराश, कितनी बार रोई थी, जब कि आकाश के तारों के सिवा और कोई देखने वाला न था।

२

इसी प्रकार रोते-रोते रानी की आँख लग गई। उसका प्यारा, कलेजे का टुकड़ा कुँवर दिलीपसिंह, जिसमें उसके प्राण बसते थे, उदास-मुख आकर सामने खड़ा हो गया। जैसे गाय दिनभर जंगलों में रहने के पश्चात् संध्या को घर आती है और अपने बछड़े को देखते ही प्रेम और उमंग से मतवारी होकर, स्तनों में दूध भरे, पूँछ उठाये, दौड़ती है, उसी भाँति चन्द्रकुँवरि अपने दोनों हाथ फैलाये अपने प्यारे कुँवर को छाती से लिपटाने के लिए दौड़ी। परन्तु आँख खुल गई और जीवन की आशाओं की भाँति वह स्वप्न भी विनष्ट हो गया। रानी ने गंगा की ओर देखा, और कहा—मुझे भी अपने साथ लेती चलो। इसके बाद रानी तुरंत छत से उतरी। कमरे में एक लालटेन जल रही थी। उसके उजेले में उसने एक मैली साड़ी पहनी, गहने उतार दिये, रत्नों के एक छोटे से बक्स को और एक तीव्र कटार को कमर में रक्खा। जिस समय वह बाहर निकली, नैराश्यपूर्ण साहस की मूर्ति थी।

सन्तरी ने पुकारा। रानी ने उत्तर दिया—मैं हूँ झंगी।

"कहाँ जाती है?"

"गंगाजल लाऊँगी। सुराही टूट गई है। रानी जी पानी माँग रही हैं।"

सन्तरी कुछ समीप आकर बोला—चल, मैं भी तेरे साथ चलता हूँ। ज़रा रुक जा।

झंगी बोली—मेरे साथ मत आओ। रानी कोठे पर हैं, देख लेंगी।

सन्तरी को धोखा देकर चन्द्रकुँवरि गुप्तद्वार से होती हुई अँधेरे में काँटों से उलझती, चट्टानों से टकराती, गंगा के किनारे जा पहुँची।

रात आधी से अधिक जा चुकी थी। गंगाजी में संतोष-दायिनी शांति विराज रही थी। तरंगें तारों को गोद में लिये सो रही थीं। चारों ओर सन्नाटा था।

रानी नदी के किनारे किनारे चली जाती थी और मुड़ मुड़ कर पीछे देखती थी। एकाएक एक डोंगी खूँटे से बँधी हुई देख पड़ी। रानी ने उसे ध्यान से देखा तो मल्लाह सोया हुआ था। उसे जगाना, काल को जगाना था। वह तुरंत रस्सी खोल कर नाव पर सवार हो गई। नाव धीरे-धीरे धार के सहारे चलने लगी, शोक और अंधकार-मय स्वप्न की भाँति जो ध्यान की तरंगों के साथ बहा चला जाता हो। नाव के हिलने से मल्लाह चौंक कर उठ बैठा। आँखें मलते मलते उसने सामने देखा तो पटरे पर एक स्त्री हाथ में डाँड़ लिये बैठी है। घबरा कर पूछा—तैं कौन है रे ? नाव कहाँ लिये जात है ? रानी हँस पड़ी। भय के अन्त को साहस कहते हैं। बोली—सच बताऊँ या झूठ ?

मल्लाह कुछ भयभीत सा होकर बोला—सच बताया जाय ।

रानी बोली—अच्छा तो सुन । मैं लाहौर की रानी चन्द्रकुँवरि हूँ। इसी किले में कैद थी। आज भागी हूँ। मुझे जल्दी बनारस पहुँचा दे, तुझे निहाल कर दूँगी और यदि शरारत करेगा तो देख, इस कटार से सिर काट दूँगी। सवेरा होने से पहले मुझे बनारस पहुँचना चाहिए।

यह धमकी काम कर गई। मल्लाह ने विनीत भाव से अपना कम्बल बिछा दिया और तेज़ी से डाँड़ चलाने लगा। किनारे के वृक्ष और ऊपर जगमगाते हुए तारे साथ साथ दौड़ने लगे।

३

प्रातःकाल चुनार के दुर्ग में प्रत्येक मनुष्य अचम्भित और व्याकुल था। सन्तरी, चौकीदार और लौंडियाँ सब सिर नीचा किये दुर्ग के स्वामी के सामने उपस्थित थे। अन्वेषण हो रहा था; परन्तु कुछ पता न चलता था।

उधर रानी बनारस पहुँची। परन्तु वहाँ पहले ही से पुलिस और सेना का जाल बिछा हुआ था। नगर के नाके बन्द थे। रानी का पता लगाने वाले के लिए एक बहुमूल्य पारितोषिक की सूचना दी गई थी।

बन्दीगृह से निकल कर रानी को ज्ञात हो गया कि

वह और दृढ़ कारागार में है। दुर्ग में प्रत्येक मनुष्य उसका आज्ञाकारी था। दुर्ग का स्वामी भी उसे सम्मान की दृष्टि से देखता था। किन्तु आज स्वतंत्र होकर भी उसके ओठ बन्द थे। उसे सभी स्थानों में शत्रु देख पड़ते थे। पंख-रहित पक्षी को पिंजरे के कोने ही में सुख है।

पुलिस के अफसर प्रत्येक आने-जाने वाले को ध्यान से देखते थे, किन्तु उस भिखारिनी की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था, जो एक फटी हुई साड़ी पहने यात्रियों के पीछे-पीछे धीरे-धीरे सिर झुकाये गंगा की ओर से चली आ रही है। न वह चौंकती है, न हिचकती है, न घबराती है। इस भिखारिनी की नसों में रानी का रक्त है।

यहाँ से भिखारिनी ने अयोध्या की राह ली। वह दिन भर विकट मार्गों में चलती, और रात को किसी सुनसान स्थान पर लेट रहती थी। मुख पीला पड़ गया था। पैरों में छाले थे। फूल सा वदन कुम्हला गया था।

वह प्रायः गाँवों में लाहौर की रानी की चर्चा सुनती। कभी-कभी पुलिस के आदमी भी उसे रानी की टोह में दत्तचित्त देख पड़ते। उन्हें देखते ही भिखारिनी के हृदय में सोई हुई रानी जाग उठती। वह आँखें उठा कर उन्हें घृणा की दृष्टि से देखती और शोक तथा क्रोध से उसकी आँखें जलने लगतीं। एक दिन अयोध्या के समीप पहुँच कर रानी

एक वृक्ष के नीचे बैठी हुई थी। उसने कमर से कटार निकाल कर सामने रख दी थी। वह सोच रही थी कि कहाँ जाऊँ ? मेरी यात्रा का अन्त कहाँ है ? क्या इस संसार में अब मेरे लिए कहीं ठिकाना नहीं है ? वहाँ से थोड़ी दूर पर आमों का एक बहुत बड़ा बाग़ था। उस में बड़े-बड़े डेरे और तम्बू गड़े हुए थे। कई एक सन्तरी चमकीली वर्दियाँ पहने टहल रहे थे, कई घोड़े बँधे हुए थे। रानी ने इस राजसी ठाटबाट को शोक की दृष्टि से देखा। एक बार वह भी काश्मीर गई थी। उस का पड़ाव इससे कहीं बढ़ कर था।

बैठे-बैठे सन्ध्या हो गई। रानी ने वहीं रात काटना निश्चय किया। इतने में एक बूढ़ा मनुष्य टहलता हुआ आया और उसके समीप खड़ा हो गया। ऐंठी हुई दाढ़ी थी, शरीर में सटा हुआ चपकन था, कमर में तलवार लटक रही थी। इस मनुष्य को देखते ही रानी ने तुरंत कटार उठा कर कमर में खोंस ली। सिपाही ने उसे तीव्र दृष्टि से देख कर पूछा—बेटी, कहाँ से आती हो।

रानी ने कहा—बहुत दूर से।

"कहाँ जाओगी ?"

"यह नहीं कह सकती, बहुत दूर।"

सिपाही ने रानी की ओर फिर ध्यान से देखा और कहा—ज़रा अपनी कटार मुझे दिखाओ। रानी कटार

सँभाल कर खड़ी हो गई और तीव्र स्वर से बोली—मित्र हो या शत्रु ? ठाकुर ने कहा—मित्र। सिपाही के बातचीत करने के ढंग और चेहरे में कुछ ऐसी विलक्षणता थी, जिससे रानी को विवश होकर विश्वास करना पड़ा।

वह बोली—विश्वासघात न करना। यह देखो।

ठाकुर ने कटार हाथ में ली। उसको उलट पलट कर देखा और बड़े नम्रभाव से उसे आँखों से लगाया। तब रानी के आगे विनीत भाव से सिर झुका कर वह बोला—महारानी चन्द्रकुँवरि ! रानी ने करुण स्वर से कहा—नहीं अनाथ भिखारिनी। तुम कौन हो ?

सिपाही ने उत्तर दिया—आपका एक सेवक।

रानी ने उसकी ओर निराश दृष्टि से देखा और कहा, दुर्भाग्य के सिवा इस संसार में मेरा कोई नहीं।

सिपाही ने कहा—महारानी जी, ऐसा न कहिए। पंजाब के सिंह की महारानी के वचन पर अब भी सैकड़ों सिर झुक सकते हैं। देश में ऐसे लोग वर्त्तमान हैं, जिन्होंने आपका नमक खाया है और वे उसे भूले नहीं हैं।

रानी—अब इसकी इच्छा नहीं। केवल एक शान्त स्थान चाहती हूँ जहाँ एक कुटी के सिवा और कुछ न हो।

सिपाही—ऐसा स्थान पहाड़ों में ही मिल सकता है। हिमालय की गोद में चलिए,वहीं आप उपद्रवों से बच सकती हैं।

रानी (आश्चर्य से)—शत्रुओं में जाऊँ? नैपाल कब हमारा मित्र रहा है ?

सिपाही—राणा जंगबहादुर दृढ़प्रतिज्ञ राजपूत हैं।

रानी—किन्तु वही जंगबहादुर तो है जो अभी-अभी हमारे विरुद्ध लार्ड डलहौजी को सहायता देने पर उद्यत था।

सिपाही (कुछ लज्जित सा होकर)—तब आप महारानी चन्द्रकुँवरि थीं, आज आप भिखारिनी हैं। ऐश्वर्य्य के द्वेषी और शत्रु चारों ओर होते हैं। लोग जलती हुई आग को पानी से बुझाते हैं, पर राख माथे पर चढ़ाई जाती है। आप ज़रा भी सोच विचार न करें। नैपाल में अभी धर्म का लोप नहीं हुआ है। आप भय त्याग करें और चलें, देखिए वह आपको किस भाँति सिर और आँखों पर बिठाता है।

रानी ने रात इसी वृक्ष की छाया में काटी। सिपाही भी वहीं सोया। प्रातःकाल वहाँ पर दो तीव्रगामी घोड़े देख पड़े। एक पर सिपाही सवार था और दूसरे पर एक अत्यन्त रूपवान युवक। यह रानी चन्द्रकुँवरि थी, जो अपने रक्षास्थान की खोज में नैपाल जाती थी। कुछ देर पीछे रानी ने पूछा—यह पड़ाव किसका है ? सिपाही ने कहा—राणा जंगबहादुर का। वे तीर्थ-यात्रा करने आये हैं; किन्तु हमसे पहले पहुँच जायँगे।

रानी—तुमने उनसे मुझे यहीं क्यों न मिला दिया ? उनका हार्दिक भाव प्रकट हो जाता।

सिपाही—यहां उनसे मिलना असम्भव था। आप जासूसों की दृष्टि से बच न सकतीं।

४

उस समय में यात्रा करना प्राण को अपर्ण कर देना था। दोनों यात्रियों को अनेकों बार डाकुओं का सामना करना पड़ा। उस समय रानी की वीरता, उसका युद्ध-कौशल तथा फुर्ती देखकर बूढ़ा सिपाही दाँतों तले अँगुली दबाता था। कभी उनकी तलवार काम कर जाती और कभी घोड़े की तेज़ चाल।

यात्रा बड़ी लम्बी थी। जेठ का महीना मार्ग ही में समाप्त हो गया। वर्षा ऋतु आई, आकाश में मेघ माला छाने लगी। सूखी नदियाँ उतरा चलीं। पहाड़ी नाले गरजने लगे। न नदियों में नाव, न नालों पर घाट। किन्तु घोड़े सधे हुए थे। स्वयं पानी में उतर जाते और डूबते उतराते, बहते, भँवर खाते पार जा पहुँचते। एक बार बिच्छू ने कछुए की पीठ पर नदी की यात्रा की थी। यह यात्रा उससे कम भयदायक न थी।

कहीं ऊँचे ऊँचे साखू और महुए के जंगल थे और कहीं हरे भरे जामुन के वन। उनकी गोद में हाथियों और

हिरनों के झुंड कलोलें कर रहे थे। धान की क्यारियाँ पानी से भरी हुई थीं। किसानों की स्त्रियाँ धान रोपती थीं और सुहावने गीत गाती थीं। कहीं उन मनोहारी ध्वनियों के बीच में, खेत की मेड़ों पर छाते की छाया में बैठे हुए जमींदारों के कठोर शब्द सुनाई देते थे।

इसी प्रकार यात्रा के कष्ट सहते, अनेकानेक विचित्र दृश्य देखते, दोनों यात्री तराई पार करके नैपाल की भूमि में प्रविष्ट हुए।

५

प्रातःकाल का सुहावना समय था। नैपाल के महाराजा सुरेन्द्र विक्रमसिंह का दरबार सजा हुआ था। राज्य के प्रतिष्ठित मंत्री अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए थे। नैपाल ने एक बड़ी लड़ाई के पश्चात् तिब्बत पर विजय पाई थी। इस समय सन्धि की शर्तों पर विवाद छिड़ा था। कोई युद्धव्यय का इच्छुक था, कोई राज्यविस्तार का। कोई-कोई महाशय वार्षिक कर पर जोर दे रहे थे। केवल राणा जंगबहादुर के आने की देर थी। वे कई महीनों के देशाटन के पश्चात् आज ही रात को लौटे थे और यह प्रसंग जो उन्हीं के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था, अब मंत्रि-सभा में उपस्थित किया गया था। तिब्बत के यात्री, आशा और भय की दशा में प्रधान मंत्री के मुख

से अंतिम निर्णय सुनने को उत्सुक हो रहे थे। नियत समय पर चोवदार ने राणा के आगमन की सूचना दी। दरवार के लोग उन्हें सम्मान देने के लिए खड़े हो गये। महाराज को प्रणाम करने के पश्चात् वे अपने सुसज्जित आसन पर वैठ गये। महाराज ने कहा—राणा जी, आप सन्धि के लिए कौन-कौन प्रस्ताव करना चाहते थे?

राणा ने नम्रभाव से कहा—मेरी अल्पवुद्धि में तो इस समय कठोरता का व्यवहार करना अनुचित है। शोकाकुल शत्रु के साथ दयालुता का आचरण करना सर्वदा हमारा उद्देश्य रहा है। क्या इस अवसर पर स्वार्थ के मोह में हम अपने वहुमूल्य उद्देश्य को भूल जायँगे? हम ऐसी सन्धि चाहते हैं जो हमारे हृदयों को एक कर दे। यदि तिव्वत का दरवार हमें व्यापारिक सुविधायें प्रदान करने पर कटिवद्ध हो, तो हम सन्धि करने के लिए सर्वथा उद्यत हैं।

मंत्रि-मंडल में विवाद आरम्भ हुआ। सवकी सम्मति इस दयालुता के अनुसार न थी। किन्तु महाराज ने राणा का समर्थन किया। यद्यपि अधिकांश सदस्यों को शत्रु के साथ ऐसी नर्मी पसन्द न थी, तथापि महाराज के विपक्ष में वोलने का किसी को साहस न हुआ।

यात्रियों के चले जाने के पश्चात् राणा जंगवहादुर ने खड़े होकर कहा—सभा के उपस्थित सज्जनो, आज नैपाल

के इतिहास में एक नई घटना होने वाली है, जिसे मैं आप की जातीय नीतिमत्ता की परीक्षा समझता हूँ। इसमें सफल होना आप ही के कर्तव्य पर निर्भर है। आज राजसभा में आते समय मुझे यह आवेदनपत्र मिला है, जिसे मैं आप सज्जनों की सेवा में उपस्थित करता हूँ। निवेदक ने तुलसी-दास की केवल यह चौपाई लिख दी है—

"आपतकाल परखिए चारी।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी॥"

महाराज ने पूछा—यह पत्र किसने भेजा है?

"एक भिखारिनी ने।"

"भिखारिनी कौन है?"

"महारानी चन्द्रकुँवरि।"

कड़बड़ खत्री ने आश्चर्य से पूछा—जो हमारे मित्र अँगरेज सरकार से विरुद्ध होकर भाग आई है?

राणा जंगबहादुर ने लज्जित होकर कहा—जी हाँ। यद्यपि हम इसी विचार को दूसरे शब्दों में प्रकट कर सकते हैं।

कड़बड़ खत्री—अँगरेजों से हमारी मित्रता है और मित्र के शत्रु की सहायता करना मित्रता की नीति के विरुद्ध है।

जनरल शमशेर बहादुर—ऐसी दशा में इस बात का भय है कि अंगरेजी सरकार से हमारे सम्बन्ध टूट न जायँ।

राजकुमार रणवीरसिंह—हम यह मानते हैं कि अतिथि-सत्कार हमारा धर्म है; किन्तु उसी समय तक जबतक कि हमारे मित्रों को हमारी ओर से शंका करने का अवसर न मिले।

इस प्रसंग पर यहाँ तक मतभेद तथा वादविवाद हुआ कि एक शोर सा मच गया और कई प्रधान यह कहते हुए सुनाई दिये कि महारानी का इस समय आना देश के लिए कदापि मंगलकारी नहीं हो सकता।

तब राणा जंगबहादुर उठे। उनका मुख लाल हो गया था। उनका सद्विचार क्रोध पर अधिकार जमाने के लिए व्यर्थ प्रयत्न कर रहा था। वे बोले—भाइयो, यदि इस समय मेरी बातें आप लोगों को अत्यन्त कड़ी जान पड़ें तो मुझे क्षमा कीजियेगा, क्योंकि अब मुझ में अधिक सुनने की शक्ति नहीं है। अपनी जातीय साहस-हीनता का यह लज्जाजनक दृश्य अब मुझ से नहीं देखा जाता। यदि नैपाल के दरबार में इतना भी साहस नहीं कि वह अतिथि-सत्कार और सहायता की नीति को निभा सके, तो मैं इस घटना के सम्बन्ध में सब प्रकार का भार अपने ऊपर लेता हूँ, दरबार अपने को इस विषय में निर्दोष समझे और इस की सर्व-साधारण में घोषणा कर दे।

कड़बड़ खत्री गर्म होकर बोले—केवल यह घोषणा देश को भय से रक्षित नहीं कर सकती।

राणा जंगबहादुर ने क्रोध से ओठ चबा लिया, किन्तु सँभल कर कहा—देश का शासन-भार अपने ऊपर लेने वालों को ऐसी अवस्थाएँ अनिवार्य हैं। हम उन नियमों से—जिन्हें पालन करना हमारा कर्त्तव्य है—मुँह नहीं मोड़ सकते। अपनी शरण में आये हुओं का हाथ पकड़ना—उनकी रक्षा करना राजपूतों का धर्म था। हमारे पूर्व पुरुष सदा इस नियम पर, धर्म पर प्राण देने को उद्यत रहते थे। अपने माने हुए धर्म को तोड़ना एक स्वतंत्र जाति के लिए लज्जास्पद है। अँगरेज़ हमारे मित्र हैं और अत्यन्त हर्ष का विषय है कि बुद्धिशाली मित्र हैं। महारानी चन्द्रकुँवरि को अपनी दृष्टि में रखने से उनका उद्देश्य केवल यह था कि उपद्रवी लोगों के गिरोह का कोई केन्द्र शेष न रहे। यदि उनका यह उद्देश्य भंग न हो, तो हमारी ओर से शंका होने का न कोई अवसर है और न हमें उनसे लज्जित होने की कोई आवश्यकता।

कड़बड़—महारानी चन्द्रकुँवरि यहाँ किस प्रयोजन से आई हैं?

राणा जंगबहादुर—केवल एक शान्ति-प्रिय सुखस्थान की खोज में, जहाँ उन्हें अपनी दुरवस्था की चिन्ता से मुक्त होने का अवसर मिले। वह ऐश्वर्यशाली रानी जो रंगमहलों में सुख-विलास करती थी—जिसे फूलों की सेज पर भी

चैन न मिलता था—आज सैकड़ों कोस से अनेक प्रकार के कष्ट सहन करती, नदी नाले, पहाड़ जंगल छानती यहाँ केवल एक रक्षित स्थान की खोज में आई है। उमड़ी हुई नदियाँ और उबलते हुए नाले, बरसात के दिन। इन दुःखों को आप लोग जानते हैं। और यह सब उसी एक रक्षित स्थान के लिए—उसी एक भूमि के टुकड़े की आशा में। किन्तु हम ऐसे स्थानहीन हैं कि उसकी यह अभिलाषा भी पूरी नहीं कर सकते। उचित तो यह था कि उतनी सी भूमि के बदले हम अपना हृदय फैला देते। सोचिए, कितने अभिमान की बात है कि एक आपदा में फँसी हुई रानी अपने दुःख के दिनों में जिस देश को याद करती है, वह यही पवित्र देश है। महारानी चन्द्रकुँवरि को हमारे इस अभयप्रद स्थान पर—हमारी शरणागतों की रक्षा पर—पूरा भरोसा था और वही विश्वास उन्हें यहाँ तक लाया है। इसी आशा पर कि पशुपतिनाथ की शरण में मुझे शान्ति मिलेगी, वह यहाँ तक आई है। आपको अधिकार है चाहे उसकी आशा पूर्ण करें या उसे धूल में मिला दें। चाहे रक्षणता—शरणागतों के साथ सदाचरण—के नियमों को निभा कर इतिहास के पृष्ठों पर अपना नाम छोड़ जायँ, या जातीयता तथा सदाचरण सम्बन्धी नियमों को मिटा कर स्वयं अपने को पतित समझें। मुझे विश्वास नहीं है

कि यहाँ एक मनुष्य भी ऐसा निरभिमान है कि जो इस अवसर पर शरणागत-पालन धर्म को विस्मृत करके अपना सिर ऊँचा कर सके। अब मैं आपके अन्तिम निपटारे की प्रतीक्षा करता हूँ। कहिए, आप अपनी जाति और देश का नाम उज्ज्वल करेंगे या सर्वदा के लिए अपने माथे पर अपयश का टीका लगाएँगे?

राजकुमार ने उमंग से कहा—हम महारानी के चरणों तले आँखे बिछाएँगे।

कप्तान विक्रमसिंह बोले—हम राजपूत हैं और अपने धर्म का निर्वाह करेंगे।

जनरल बनवीरसिंह—हम उनको ऐसी धूमधाम स लाएँगे कि संसार चकित हो जायगा।

राणा जंगबहादुर ने कहा—मैं अपने मित्र कड़बड़ खत्री के मुख से उनका फ़ैसला सुनना चाहता हूँ।

कड़बड़ खत्री एक प्रभावशाली पुरुष थे, और मंत्रि-मण्डल में वे राणा जंगबहादुर की विरुद्ध-मण्डली के प्रधान थे। वे लज्जाभरे शब्दों में बोले—यद्यपि मैं महारानी के आगमन को भयरहित नहीं समझता, किन्तु इस अवसर पर हमारा धर्म यही है कि हम महारानी जी को आश्रय दें। धर्म से मुँह मोड़ना किसी जाति के लिए मान का कारण नहीं हो सकता।

कई ध्वनियों ने उमंग भरे शब्दों में इस प्रसंग का समर्थन किया।

महाराज सुरेन्द्रविक्रमसिंह ने इस वादविवाद को ध्यान से सुना और कहा--धर्मवीरो, मैं तुम्हें इस निपटारे पर बधाई देता हूँ। तुमने जाति का नाम रख लिया। पशुपति इस उत्तम कार्य्य में तुम्हारी सहायता करें।

सभा विसर्जित हुई। दुर्ग से तोपें छूटने लगीं। नगर भर में खबर गूँज उठी कि पंजाब की महारानी चंद्र-कुँवरि का शुभागमन हुआ है। जनरल रणवीरसिंह और जनरल समरधीरसिंह बहादुर ९००० सेना के साथ महारानी की अगवानी के लिए चले।

अतिथि-भवन की सजावट होने लगी। बाज़ार अनेक भाँति की उत्तम सामग्रियों से सजाये गये।

ऐश्वर्य्य की प्रतिष्ठा वा सम्मान सब कहीं होता है, किन्तु किसी ने भिखारिनी का ऐसा सम्मान देखा है? सेनायें बैंड बजाती और पताका फहराती हुई एक उमड़ी नदी की भाँति चली जाती थीं। सारे नगर में आनन्द ही आनन्द था। दोनों ओर सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजे दर्शकों का समूह खड़ा था। सेना के कमांडर आगे-आगे घोड़ों पर सवार थे। सब के आगे राणा जंगबहादुर, जातीय अभिमान के मद में लीन, अपने सुवर्ण खचित

हौदे में बैठ हुए थे। यह उदारता का एक पवित्र दृश्य था। धर्मशाला के द्वार पर यह जुलूस रुका। राणा हाथी से उतरे। महारानी चन्द्रकुँवरि कोठरी से बाहर निकल आईं। राणा ने झुक कर वंदना की। रानी उनकी ओर आश्चर्य से देखने लगीं। यह वही उनका मित्र—उनका बूढ़ा सिपाही था।

आँखें भर आईं। मुसकराईं। खिले हुए फूल पर से ओस की बूँदें टपकीं। रानी बोलीं—मेरे बूढ़े ठाकुर, मेरी नाव पार लगाने वाले, किस भाँति तुम्हारा गुण गाऊँ?

राणा ने सिर झुका कर कहा—आपके चरणारविन्द से हमारे भाग्य उदय हो गये।

६

नैपाल की राजसभा ने पचीस हज़ार रुपये से महारानी के लिए एक उत्तम भवन बनवा दिया और उनके लिए दस हज़ार रुपये मासिक नियत कर दिया।

वह भवन आज तक वर्तमान है और नैपाल की शरणागत-प्रियता तथा प्रणपालन-तत्परता का स्मारक है। पंजाब की रानी को लोग आज तक याद करते हैं।

यह सीढ़ी है जिससे जातियाँ यश के सुनहले शिखर तक पहुँचती हैं।

ये ही घटनायें हैं जिनसे जातीय इतिहास प्रकाश और महत्त्व को प्राप्त होता है।

पोलिटिकल रेज़ीडेंट ने गवर्नमेंट को रिपोर्ट की। इस बात की शंका थी कि गवर्नमेंट आव इंडिया और नैपाल के बीच कुछ खिंचाव हो जाय। किन्तु गवर्नमेंट को राणा जंगबहादुर पर पूर्ण विश्वास था और जब नैपाल की राजसभा ने विश्वास और सन्तोष दिलाया कि महारानी चन्द्रकुँवरि को किसी शत्रु-भाव के प्रयत्न का अवसर न दिया जायगा, तब भारत सरकार को भी सन्तोष हो गया। इस घटना को भारतीय इतिहास की अँधेरी रात में 'जुगनू की चमक' कहना चाहिए।

बड़े घर की बेटी

बेनीमाधवसिंह गौरीपुर गाँव के जमींदार और नम्बरदार थे। उनके पितामह किसी समय बड़े धन-धान्यसम्पन्न थे। गाँव का पक्का तालाब और मन्दिर, जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्त्तिस्तम्भ थे। कहते हैं, इस दरवाजे पर हाथी झूमता था; अब उस की जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर में पंजर के सिवा और कुछ भी शेष न रहा था। पर दूध शायद बहुत देती थी, क्योंकि एक-न-एक आदमी हाँड़ी लिये उसके सिर पर सवार ही रहता था। बेनीमाधवसिंह अपनी आधी से अधिक सम्पत्ति वकीलों की भेंट कर चुके थे। उनकी वर्त्तमान आय वार्षिक एक हज़ार से अधिक न थी। ठाकुर साहब के दो बेटे थे। बड़े का नाम श्रीकण्ठ-सिंह था। उसने बहुत दिनों के परिश्रम और उद्योग के

बाद बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी। अब एक दफ्तर में नौकर था। छोटा लड़का लालबिहारीसिंह दोहरे बदन का सजीला जवान था। मुखड़ा भरा हुआ, चौड़ी छाती, भैंस का दो सेर ताज़ा दूध वह रोज़ सवेरे पी जाता था। श्रीकण्ठसिंह की दशा उसके बिलकुल विपरीत थी। इन नेत्रप्रिय गुणों को उन्होंने इन्हीं दो अक्षरों पर न्योछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कान्तिहीन बना दिया था। इसी से वैद्यक ग्रन्थों पर उनका विशेष प्रेम था। आयुर्वैदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। साँझ-सवेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली, कर्णमधुर ध्वनि सुनाई दिया करती थी। लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।

श्रीकण्ठ इस अँगरेज़ी डिग्री के अधिपति होने पर भी अँगरेज़ी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे। बल्कि वह बहुधा बड़े जोर से उनकी निन्दा और तिरस्कार किया करते थे। इसी से गाँव में उनका बड़ा सम्मान था। दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी-न-किसी पात्र का पार्ट लेते। गौरीपुर में रामलीला के वही जन्मदाता थे। प्राचीन हिन्दू-सभ्यता का गुणगान उनकी धार्मिकता का

प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा के तो वह एक मात्र उपासक थे। आजकल स्त्रियों की कुटुम्ब में मिल-जुल कर रहने की ओर जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और देश के लिए बहुत ही हानिकर समझते थे। यही कारण था कि गाँव की ललनाएँ उनकी निन्दक थीं। कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी सङ्कोच न करती थी, स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय में उनसे विरोध था। वह इसलिए नहीं कि उसे अपने सास, ससुर, देवर जेठ से घृणा थी, बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहन करने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके तो आये दिन की कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि अपनी खिचड़ी अलग पकायी जाय।

आनन्दी एक बड़े कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी, सिकरे, झाड़-फानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेट और ऋण, जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुके-दार के भोग्य पदार्थ हैं, वह सभी यहाँ विद्यमान थे। भूपसिंह नाम था। बड़े उदार-चित्त, प्रतिभाशाली पुरुष थे। पर दुर्भाग्य, लड़का एक भी न था। सात लड़कियाँ हुईं और दैवयोग से सब की सब जीवित रहीं। पहली

उमंग में तो उन्होंने तीन व्याह दिल खोल कर किये, पर जब पन्द्रह-बीस हज़ार का कर्ज़ सिर पर हो गया तो आँखें खुलीं, हाथ समेट लिये। आनन्दी चौथी लड़की थी। वह अपनी सब बहिनों से अधिक रूपवती और गुणशीला थी। इसी से ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुन्दर सन्तान को कदाचित् उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं। ठाकुर साहब बड़े धर्म-सङ्कट में थे कि इसका विवाह कहाँ करें। न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्यहीन समझना पड़े। एक दिन श्रीकण्ठ उनके पास किसी चन्दे का रुपया माँगने आये। शायद नागरी-प्रचारक चन्दा था। भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गये और धूमधाम से श्रीकण्ठसिंह का आनन्दी के साथ विवाह हो गया।

आनन्दी अपने नये घर में आई तो यहाँ का रङ्ग-ढङ्ग कुछ और ही देखा। जिस टीमटाम की उसे बचपन से आदत पड़ी हुई थी वह यहाँ नाम मात्र को भी न थी। हाथी-घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुन्दर बहली तक न थी। रेशमी स्लीपर साथ लायी थी, पर यहाँ बाग़ कहाँ! मकान में खिड़कियाँ तक न थीं, न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवार पर तस्वीरें। यह एक सीधे

सादे देहाती गृहस्थ का मकान था। किन्तु आनन्दी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नई अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया; मानों उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे।

२

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारीसिंह दो चिड़ियाँ लिये हुए आया और भावज से बोला, जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है। आनन्दी भोजन बना कर इनकी राह देख रही थी। अब यह नया व्यञ्जन बनाने बैठी। हाँड़ी में देखा तो घी पाव भर से अधिक न था। बड़े घर की बेटी किफ़ायत क्या जाने। उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा तो दाल में घी न था, बोला, दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा?

आनन्दी ने कहा—घी सब मांस में पड़ गया। लालबिहारी ज़ोर से बोला, अभी परसों घी आया है, इतनी जल्दी उठ गया!

आनन्दी ने उत्तर दिया, आज तो कुल पाव भर रहा होगा। वह सब मैंने मांस में डाल दिया।

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा सी बात पर तिनक जाता है। लालबिहारी को भावज की यह

ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई। तनक कर बोला, मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो।

स्त्री गालियाँ सह लेती है, मार भी सह लेती है, पर मैके की निन्दा उससे नहीं सही जाती। आनन्दी मुँह फेर कर बोली, हाथी मरा भी तो नौ लाख का, वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं।

लालबिहारी जल गया, थाली उठा कर पटक दी। और बोला, जी चाहता है कि जीभ पकड़ कर खींच लूँ।

आनन्दी को भी क्रोध आया। मुँह लाल हो गया, बोली, वह होते तो आज इसका मज़ा चखा देते।

अब अपढ़ उजड्ड ठाकुर से रहा न गया। उसकी स्त्री एक साधारण जमींदार की बेटी थी। जब जी चाहता उस पर हाथ साफ कर लिया करता था। उसने खड़ाऊँ उठा कर आनन्दी की ओर ज़ोर से फेंकी और बोला, जिसके गुमान पर भूली हुई हो उसे भी देखूँगा और तुम्हें भी।

आनन्दी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी; सिर बच गया, पर अँगुली में बड़ी चोट आई। क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भाँति काँपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गई। स्त्री का बल और साहस, मान और मर्य्यादा पति तक है। उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमण्ड होता है। आनन्दी लोहू का घूँट पीकर रह गई।

३

श्रीकण्ठसिंह शनिवार को घर आया करते थे। बृहस्पति को यह घटना हुई थी। दो दिन तक आनन्दी कोपभवन में रही। न कुछ खाया, न पिया; उनकी बाट देखती रही। अन्त में शनिवार को वह नियमानुकूल सन्ध्या समय घर आये और बाहर बैठकर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देश और काल-सम्बन्धी समाचार तथा कुछ नये मुक़द्दमों आदि की चर्चा करने लगे। यह वार्त्तालाप दस बजे रात तक होता रहा। गाँव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनन्द मिलता था कि उन्हें खाने-पीने तक की सुधि न रहती थी। श्रीकण्ठ का पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था। यह दो-तीन घंटे आनन्दी ने बड़े कष्ट से काटे। किसी तरह भोजन का समय आया। पंचायत उठी। जब एकान्त हुआ लालबिहारी ने कहा, भैया, आप ज़रा घर में समझा दीजियेगा कि मुंह सँभाल कर बात-चीत किया करें; नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायगा।

बेनीमाधवसिंह ने बेटे की ओर से साक्षी दी, हाँ बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि पुरुषों के मुँह लगें।

लालबिहारी—वह बड़े घर की बेटी है तो हम लोग भी कोई कुर्मी-कहार नहीं हैं।

श्रीकण्ठ ने चिन्तित स्वर से पूछा, आखिर बात क्या हुई ?

लालबिहारी ने कहा, कुछ भी नहीं, यों ही आप-ही-आप उलझ पड़ीं। मैके के सामने हम लोगों को तो कुछ समझती ही नहीं।

श्रीकण्ठ खा-पीकर आनन्दी के पास गये। वह भरी बैठी थी। यह हज़रत भी कुछ तीखे थे। आनन्दी ने पूछा चित्त तो प्रसन्न है ?

श्रीकण्ठ बोले, बहुत प्रसन्न है, पर तुमने आज कल घर में यह क्या उपद्रव मचा रक्खा है ?

आनन्दी की तेवरियों पर बल पड़ गये और झुँझलाहट के मारे बदन में ज्वाला सी दहक उठी। बोली, जिसने तुमसे यह आग लगायी है, उसे पाऊँ तो मुँह झुलस दूँ।

श्रीकण्ठ—इतनी गरम क्यों होती हो, बात तो कहो।

आनन्दी—क्या कहूँ, यह मेरे भाग्य का फेर है। नहीं तो एक गँवार छोकरा जिसे चपरासगिरी करने का भी ढंग नहीं, मुझे खड़ाऊँ से मारकर यों न अकड़ता।

श्रीकण्ठ—सब साफ़-साफ़ कहो तो मालूम हो। मुझे तो कुछ पता नहीं।

आनन्दी—परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे मांस

पकाने को कहा। घी हाँड़ी में पाव भर से अधिक न था। वह मैंने सब मांस में डाल दिया। जब खाने बैठा तो कहने लगा, दाल में घी क्यों नहीं है? बस इसी पर मेरे मैके को भला-बुरा कहने लगा। मुझसे न रहा गया, मैंने कहा कि वहाँ इतना घी तो नाई-कहार खा जाते हैं और किसी को जान भी नहीं पड़ता। बस, इतनी-सी बात पर इस अन्यायी ने मुझपर खड़ाऊँ फेंक मारी। यदि हाथ से न रोक लेती तो सिर फट जाता। उसी से पूछो कि मैंने जो कुछ कहा है वह सच है या झूठ।

श्रीकण्ठ की आँखें लाल हो गईं। बोले, यहाँ तक हो गया। इस छोकरे का यह साहस!

आनन्दी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी, क्योंकि आँसू उनकी पलकों पर रहते हैं। श्रीकण्ठ बड़े धैर्यवान् और शान्त पुरुष थे। उन्हें कदाचित ही क्रोध आता था। पर स्त्रियों के आँसू पुरुषों की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं। रातभर करवटें बदलते रहे। उद्विग्नता के कारण पलक तक नहीं झपकी। प्रातःकाल अपने बाप के पास जाकर बोले, दादा, अब इस घर में मेरा निर्वाह न होगा।

इस तरह की विद्रोहपूर्ण बातें करने पर श्रीकण्ठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े हाथों लिया

था। परन्तु दुर्भाग्य आज उन्हें स्वयं वही बात अपने मुँह से कहनी पड़ी। दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है!

बेनीमाधवसिंह घबरा कर उठे और बोले, क्यों?

श्रीकण्ठ—इसलिए कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है। आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है। जिनको बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिये वह उनके सिर चढ़ते हैं। मैं दूसरे का चाकर ठहरा, घर पर रहता नहीं, यहाँ मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊँ और जूतों की बौछारें होती हैं। कड़ी बात तक चिन्ता नहीं, कोई एक की दो कह ले, यहाँ तक मैं सह सकता हूँ, किन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात घूसे पड़ें और मैं दम न मारूँ।

बेनीमाधवसिंह कुछ जवाब न दे सके। श्रीकण्ठ सदैव उनका आदर करते थे। उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़े ठाकुर अवाक् रह गये। केवल इतना ही बोले—बेटा, तुम बुद्धिमान होकर ऐसी बात करते हो? स्त्रियाँ इसी तरह घर का नाश कर देती है। उनको बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं।

श्रीकण्ठ—इतना मैं जानता हूँ, आपके अशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही

समझाने बुझाने से इसी गाँव में, कई घर सँभल गये; पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दरबार में उत्तर दाता हूँ, उसके साथ ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है। आप सच मानिए, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दण्ड नहीं देता।

अब बेनीमाधवसिंह भी गरमाये, ऐसी बात और न सुन सके, बोले, लालबिहारी तुम्हारा भाई है, उससे जब कभी भूल-चूक हो उसके कान पकड़ो। लेकिन—

श्रीकण्ठ—लालबिहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता।

बेनीमाधवसिंह—स्त्री के पीछे ?

श्रीकण्ठ—जी नहीं, उनकी क्रूरता और अविवेक के कारण।

दोनों कुछ देर चुप रहे। ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शान्त करना चाहते थे। लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है। इसी बीच में गाँव के और कई सज्जन हुक्के-चिलम के बहाने से वहाँ आ बैठे। कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकण्ठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने पर तैयार है तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। दोनों पक्षों की मधुर वाणियाँ सुनने के लिए उनकी आत्मायें तलमलाने लगीं। गाँव

में कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य थे जो इस कुल की नीतिपूर्ण गति पर मन-ही-मन जलते थे। वह कहा करते थे श्रीकण्ठ अपने बाप से दबता है इसलिए वह दब्बू है; उसने इतनी विद्या पढ़ी इसलिए वह किताबों का कीड़ा है, बेनीमाधवसिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते, यह उनकी मूर्खता है। इन महानुभावों की शुभ कामनायें आज पूरी होती दिखाई दीं। कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने, आ-आ कर बैठ गये। बेनीमाधवसिंह पुराने आदमी थे, इन भावों को ताड़ गये। उन्होंने निश्चय किया कि कुछ ही क्यों न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूँगा। तुरंत कोमल शब्दों में बोले—बेटा मैं तुमसे बाहर नहीं हूँ। तुम्हारा जो जी चाहे करो, अब तो लड़के से अपराध हो गया।

इलाहाबाद का अनुभवरहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका, उसे डिबेटिंग क्लब में अपनी बात पर अड़ने की आदत थी, इन हथकण्डों की उसे क्या खबर! बाप ने जिस मतलब से बात पलटी वह उसकी समझ में न आया, बोला, मैं लालबिहारी के साथ अब इस घर में नहीं रह सकता।

बेनीमाधव—बेटा, बुद्धिमान लोग मूर्खों की बात

पर ध्यान नहीं देते। वह बेसमझ लड़का है; उससे जो कुछ भूल हुई है उसे तुम बड़े होकर क्षमा करदो।

श्रीकण्ठ—उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता। या तो वही घर में रहेगा या मैं ही रहूँगा। आपको यदि वह अधिक प्यारा है तो मुझे विदा कीजिये, मैं अपना भार आप सँभाल लूँगा। यदि मुझे रखना चाहते हैं तो उससे कहिये जहाँ चाहे चला जाय। बस, यही मेरा अन्तिम निश्चय है।

लालबिहारीसिंह दरवाजे की चौखट पर चुपचाप खड़ा बड़े भाई की बात सुन रहा था। वह उनका बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस नहीं हुआ कि श्रीकण्ठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पी ले वा पान खा ले। बाप का भी इतना मान न करता था। श्रीकण्ठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था। अपने होश में उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था। जब इलाहाबाद से आते तो उसके लिए कोई-न-कोई वस्तु अवश्य लाते। मुगदर की जोड़ी उन्होंने बनवा दी थी। पिछले साल जब उसने अपने से ड्योढ़े जवान को नागपञ्चमी के दिन दङ्गल में पछाड़ दिया तो उन्होंने पुलकित होकर अखाड़े में ही जाकर उसे गले लगा लिया था। पाँच रुपये के पैसे लुटाये थे। ऐसे भाई के मुँह से आज ऐसी हृदयविदारक बात

सुन कर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई। वह फूट-फूट कर रोने लगा। इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने किये पर आप पछता रहा था। भाई के आने से एक दिन पहले से ही उसकी छाती धड़कती थी कि देखूँ भैया क्या कहते हैं? मैं उन के सन्मुख कैसे जाऊँगा, उन से कैसे बोलूँगा, मेरी आँखें उनके सामने कैसे उठेंगी। उसने समझा था कि भैया मुझे बुला कर समझा देंगे। इस आशा के विपरीत आज उसने उन्हें निर्दयता की मूर्त्ति बने हुए पाया। वह मूर्ख था, परन्तु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं। यदि श्रीकण्ठ उसे अकेले में बुला कर दो-चार कड़ी बातें कह देते, इतना ही नहीं दो-चार तमाचे भी लगा देते, तो कदाचित् उसे इतना दुःख न होता। पर, भाई का यह कहना कि अब मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता, लालबिहारी से न सहा गया। वह रोता हुआ घर में आया। कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आँखें पोंछीं, जिसमें कोई यह न समझ सके कि रोता था। तब आनन्दी के द्वार पर आकर बोला—भाभी! भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। वह अब मेरा मुँह नहीं देखना चाहते। इसलिए मैं अब जाता हूँ, उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझ से जो कुछ अपराध हुआ उसे क्षमा करना।

यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया।

४

जिस समय लालबिहारीसिंह सिर झुकाये आनन्दी के द्वार पर खड़ा था, उसी समय श्रीकण्ठसिंह भी आँखें लाल किये बाहर से आये। भाई को खड़ा देखा तो घृणा से आँखें फेर लीं और कतरा कर निकल गये; मानों उसकी परछाहीं से भी दूर भागते हैं।

आनन्दी ने लालबिहारी की शिकायत की थी लेकिन अब मन में पछता रही थी। वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायगी। वह मन में अपने पति पर झुँझला रही थी कि यह इतने में गरम क्यों हो जाते हैं। उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझ से इलाहाबाद चलने को कहें तो कैसे क्या करूँगी। इसी बीच में जब उसने लाल-बिहारी को दरवाज़े पर खड़े यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूँ मुझसे जो अपराध हुआ है उसे क्षमा करना तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी-पानी हो गया। वह रोने लगी। मन की मैल धोने के लिए नयन-जल से उप-युक्त और कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकण्ठ को देखकर. आनन्दी ने कहा, लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकण्ठ—तो मैं क्या करूँ?

आनन्दी—भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे, मैंने कहाँ से यह झगड़ा उठाया।

श्रीकण्ठ—मैं न बुलाऊँगा।

आनन्दी—पछताओगे। उन्हें बहुत ग्लानि हो गई है, ऐसा न हो कहीं चल दें।

श्रीकण्ठ न उठे। इतने में लालविहारी ने फिर कहा, भाभी! भैया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह नहीं देखना चाहते, इसलिए मैं भी अपना मुँह उन्हें न दिखाऊँगा।

लालविहारी इतना कहकर लौट पड़ा, और शीघ्रता से दरवाजे की ओर बढ़ा। अन्त में आनन्दी कमरे से निकली और उनका हाथ पकड़ लिया। लालविहारी ने पीछे फिरकर देखा और आँखों में आँसू भरे बोला, मुझे जाने दो।

आनन्दी—कहाँ जाते हो?

लालविहारी—जहाँ कोई मेरा मुँह न देखे।

आनन्दी—मैं न जाने दूँगी।

लालविहारी—मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूँ।

आनन्दी—तुम्हें मेरी सौगन्ध, अब एक पग भी आगे न बढ़ाना।

लालबिहारी—जब तक मुझे यह न मालूम हो जाय कि भैया का मन मेरी तरफ से साफ़ हो गया, तबतक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।

आनन्दी—मैं ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

अब श्रीकण्ठ का हृदय भी पिघला। उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया। दोनों भाई खूब फूट-फूटकर रोये। लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा, भैया! अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुँह न देखूँगा। इसके सिवा आप जो दण्ड देंगे वह मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा।

श्रीकण्ठ ने काँपते हुए स्वर से कहा, लल्लू! इन बातों को बिलकुल भूल जाओ, ईश्वर चाहेगा तो अब फिर ऐसा अवसर न आवेगा!

बेनीमाधवसिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले-गले मिलते देखकर आनन्द से पुलकित हो गये, बोल उठे, बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं। बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।

गाँव में जिसने यह वृत्तान्त सुना उसीने इन शब्दों में आनन्दी की उदारता को सराहा, "बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।"

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

गुलेरीजी के पुरखा काँगड़ा प्रान्त (पंजाब) के रहने वाले थे। परन्तु इनके पिता बाद में जयपुर में जा बसे थे। इनका जन्म २५ आषाढ़ संवत् १९४० और मृत्यु संवत् १९६८ में जयपुर में हुई। ५-६ वर्ष की आयु से इनको संस्कृत की शिक्षा दी जाने लगी थी। सन् १९०३ में इन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा पास की थी। इस परीक्षा में ये प्रथम रहे थे।

कई वर्ष तक ये 'सामालोचक' का सम्पादन करते रहे। इसके अतिरिक्त इनके लेख बहुत से पत्रों में प्रकाशित हुआ करते थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के बहुत दिनों तक सदस्य रहे, और सभा द्वारा प्रकाशित लेखमाला का बहुत दिनों तक संपादान करते रहे। ये संस्कृत और अंग्रेज़ी के अतिरिक्त अन्य कई भारतीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे।

इन्होंने केवल दो-तीन कहानियाँ लिखी हैं और वे ही इनके नाम को अमर कर गई हैं। साहित्यिक-ससार में इनका स्थान बहुत ऊँचा था और ये प्रतिभाशाली लेखक थे। भाषा पर इनका खासा अधिकार था। इनकी शब्दावली चलती सरल और विशिष्टतापूर्ण तथा वाक्य-विन्यास आकर्षक गठित और मुहावरेदार है। लेखन-शैली चटपटी, विनोदपूर्ण एवं व्यंग्य से आक्रान्त है।

"उसने कहा था" कहानी इनकी अमर-रचना है। इस कहानी में मसखरापन और गम्भीरता दोनों का समावेश है। कहानी के प्रारम्भिक भाग में पंजाबी शब्दों का प्रयोग करके कहानी को और भी अधिक रोचक बनाया गया है।

उसने कहा था

१

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़ों की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले, तंग, चक्करदार गलियों में, हर

एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ा कर 'बचो खालसाजी,' 'हटो भाई जी,' 'ठहरना माई,' 'आने दो लालजी,' 'हटो बाछा,' कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने, खोमचे और भारे-वालों के जङ्गल में राह खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी बचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणजोगिए; हट जा, करमावालिए; हट जा, पुत्तांप्यारिए; बच जा, लम्मी-वालिए। समष्टि में इनके अर्थ हैं कि तू जीने योग्य है, तू भाग्य वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिए के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गोले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं ?'

'मगरे में;—और तेरे ?'

'माझे में;—यहाँ कहाँ रहती है ?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाज़ार में है ।'

इतने में दूकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जा कर लड़के ने मुसकरा कर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई ?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ा कर 'धत्' कह कर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जी वाले के यहाँ, दूध वाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—हाँ, हो गई।

'कब ?'

'कल ; देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ 'सालू'। लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर

मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उँडेल दिया। सामने नहा कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

२

'रामराम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेह और बरफ़ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखाता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोली से बचे तो कोई लड़े। नगर-कोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिए। परसों "रिलीफ़" आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरङ्गी मेम के बाग में—मखमल का-सा हरा घास है। फल और

दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। विना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उन दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन ही न छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?' सूबेदार हज़ारासिंह ने मुसकराकर कहा, 'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफ़सर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ़ बढ़ गए तो क्या होगा?'

'सूबेदार जी, सच है,' लहनासिंह बोला, 'पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ़ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।'

'उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा, तुम चार जने वाल्टियाँ लेकर खाई का पानी वाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। वाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के वाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के वादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के वादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी वाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी वाड़ी के खरवूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाव भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के वाद सरकार से दस घुमा ज़मीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के वूटे लगाऊँगा।'

'लाड़ी होरां को भी यहाँ वुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फरङ्गी मेम—'

'चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्वाखू नहीं पीते। वह सिगरट देने

में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं ?"

'अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है ?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे ओढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वज़ीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—क्या मरने मराने की बात लगाई है ?

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज़ सुनाई दी। सारी खन्दक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये; मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

३

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधासिंह भाई, क्या है ?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो ?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो ?'

'और तुम ?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लगती है पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम, मेरे लिए—'

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन बुनकर भेज रही

हैं। गुरु उनका भला करे।' यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो ?'

'और नहीं झूठ ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप ख़ाकी कोट और ज़ीन का कुरता भर पहन कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई—'सूबेदार हज़ारासिंह !'

'कौन लपटन साहब ? हुकुम हुजूर' कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।'

'देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से जियादह जर्मन नहीं है। इन पेड़ों के नीचे नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा-मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कंबल

उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

'लो तुम भी पियो।'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों से कटे हुए बाल कहाँ से आये?

.शायद साहब शराब पिये हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौक़ा मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे?'

'लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं?'

"नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ क़हाँ ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वहीं जब आप खोते पर सवार थे और आपका ख़ानसामा अब्दुल्ला रास्ते में एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नील-गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट के मेस में लगायेंगे। 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग दो-दो फुट के तो होंगे ?"

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुम ने सिगरेट नहीं पिया ?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कह कर लहनासिंह ख़न्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन ? वजीरासिंह ?'

'हाँ क्यों लहना ? क्या, क़यामत आ गई ? ज़रा तो आँख लगने दी होती ?'

४

'होश में आओ। क़यामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।'

'क्यों ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सौहरा साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होराँ कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह कि यहीं—'

'ऐसी तैसी हुकुम की ? मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफ़सर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की ख़बर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर के तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह ख़न्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गरदन पर मारा और साहब 'आँख ! मीन गौट्ट‡' कहते हुए चित हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीन कर ख़न्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया।

‡हाय मेरे राम ! (जर्मन)

जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफ़ाफ़े और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—'क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के ज़िले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्त्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डेम' के पाँच लफ़्ज़ भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानों जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिएँ। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों के बच्चे होने की तावीज़ बाँटता था। चौधरी के बढ़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनी वाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़कर उनमें

से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मंडी के बनियों को वहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो; सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फ़ायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया, "क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कह कर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बंदूकें लेकर तैयार होगये। लहना ने साफ़ा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक

कर मार रहा था—वह खड़ा था, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े मिनटों में वे—

अचानक आवाज़ आई "वाह गुरु जी की फतह ! वाह गुरुजी का खालसा !!" और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहना-सिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और-"अकाल सिक्खां दी फ़ौज आई ! वाह गुरुजी दी फ़तह ! वाह गुरुजी दा खालसा !! सत श्री अकाल पुरुख !!!" और लड़ाई खतम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी, उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफ़ा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद,

जिसके प्रकाश से संस्कृत कवियों का दिया हुआ 'क्षपा' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर उसकी तुरत बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफ़ोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फ़ील्ड अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कह कर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—

"तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं मैं खड़ा हूँ ? वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझ से जो उनने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा 'तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?'

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। 'वज़ीरा पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।'

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनायें एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रङ्ग साफ होते हैं; समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × × × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। वह जब पूछता है तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कह कर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा, "हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?" सुनते ही बहुत दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वज़ीरासिंह पानी पिला दे।"

× × × × ×

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राफ़इल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुक़द्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट

के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के हाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढ़े में से निकल कर आया। बोला—"लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं, जा मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं'।

"तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला,—'उसने कहा था'।

× × × ×

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ, मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौक़ा आया है। पर सरकार ने हम तीमियों की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फ़ौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।" सूबेदारनी रोने लगी। "अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठा कर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वज़ीरासिंह, पानी पिला,—'उसने कहा था'

× × × × ×

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वज़ीरासिंह

बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

'कौन ? कीरतसिंह ?'

वजीरा ने कुछ समझ कर कहा, 'हाँ'।

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।' वजीरा ने वैसा ही किया।

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चाचा भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

× × × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा नं० ७७ सिख राइफ़लस जमादार लहनासिंह।

पं० ज्वालादत्त शर्मा

शर्माजी मुरादाबाद के निवासी हैं। इनका जन्म संवत् १९४५ वि० में हुआ था। ये संस्कृत, फारसी और उर्दू के अच्छे ज्ञाता हैं। इन्होंने उर्दू के कई सुविख्यात कवियों पर आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं। इन्होंने 'सरस्वती' में उन दिनों लिखना शुरू किया था, जिन दिनों हिन्दी में बहुत थोड़ी मौलिक कहानियाँ लिखी जाती थीं।

साधारणतः इनकी कहानियों में समाज के करुण दृश्यों की अधिकता रहती है। ये कुशल समालोचक भी हैं।

अनाथ-बालिका

१

पण्डित राजनाथ एम० डी० का व्यवसाय साधारण नहीं है। शहर के छोटे-बड़े—अमीर-गरीब सभी उनको अपनी बीमारी में बुलाते हैं। इसके कई कारण हैं। एक तो आप साधु पुरुष हैं; दूसरे बड़े स्पष्टवक्ता; तीसरे सदाचार की मूर्ति हैं। चालीस साल की अवस्था हो जाने पर भी आपने अपना विवाह नहीं किया। ईश्वर की कृपा से आपके पास रुपये और मान की कमी नहीं। अतुल धन और अमित सम्मान के अधिकारी होने पर भी आप बड़े जितेन्द्रिय, निरभिमान और सदाचारी हैं। गोरखपुर में आप को डाक्टरी शुरू किये सिर्फ सात ही वर्ष हुए हैं, पर शहर के छोटे-बड़े सब की ज़बान पर राजा-बाबू का नाम इस तरह चढ़ गया है, मानों वे जन्म से ही वहा के निवासी हैं। आपका कद ऊँचा, शरीर छरेरा और

चेहरा कान्ति-पूर्ण गोरा है। मरीज़ से बातचीत करते ही उसकी तकलीफ़ आप कम कर देते हैं। इस कारण साधारण लोग आपको जादूगर तक समझते हैं। आपके परिवार में सिर्फ वृद्धा माता हैं। एक भानजे का भरणपोषण भी आप ही करते हैं। भानजा सतीश कालेज में पढ़ता है।

डाक्टर राजा-बाबू ने अनेक मरीजों से फ़ारिग़ हो कर आज का दैनिक उठाया ही था कि उनके सामने एक ११-१२ वर्ष की निरीह बालिका, आँखों में आँसू भरे हुए आ खड़ी हुई। डाक्टर साहब समझ गये कि इस बालिका पर कोई भारी विपत्ति आई है। उन्होंने दैनिक को मेज़ पर रखकर बड़े स्नेह के साथ उससे पूछा—

"बेटी, क्यों रोती हो?"

"डाक्टर साहब कहाँ हैं, मैं उनके पास आई हूँ। मेरी माँ का बुरा हाल है।"

"मैं ही डाक्टर हूँ। तुम्हारी माँ को क्या शिकायत है?"

"डाक्टर साहब, मेरी माँ को बड़े ज़ोर का बुख़ार चढ़ा है। तीन दिन से वह बेहोश थी। आज कुछ होश हुआ है, तो आपको बुलाने के लिए भेजा है। हमारा घर बहुत दूर नहीं है। आप चलकर देख लीजिए।"

"मैं अभी चलता हूँ। तुम घबराओ मत। ईश्वर तुम्हारी माँ को नीरोग कर देगा।"

डाक्टर साहब अपना हैंड-बैग उठाकर लड़की के साथ पैदल ही चल दिये। लड़की के मना करने पर भी उन्होंने नहीं माना और कहा—तुम्हारा मकान बहुत क़रीब है। मैं भी प्रातःकाल से गाड़ी में बैठे-बैठे थक सा गया हूँ; इसलिए थोड़ी दूर पैदल चलने को तबीयत चाहती है।

डाक्टर साहब पेचदार गलियों से निकलते हुए एक बहुत छोटे मकान में दाखिल हुए। मकान की अवस्था देखते ही डाक्टर साहब ने समझ लिया कि इसमें रहने वालों पर चिरकाल से लक्ष्मीजी का कोप मालूम होता है। उन्होंने मकान के भीतर जाकर देखा कि एक छप्पर के नीचे चारपाई पर लड़की की माँ लिहाफ़ ओढ़े लेटी हुई है। आँगन में नीम का एक पेड़ है। उसके पत्तों से आँगन भर रहा है। मालूम होता है कि कई दिनों से घर में झाड़ू तक नहीं लगाई गई। लड़की ने अपनी माँ की चारपाई के पास पहले से ही एक मूढ़ा बिछा रखा था; क्योंकि उसने अपनी माँ से सुना था कि कोई ग़रीब आदमी डाक्टर साहब के घर से निराश नहीं लौटाया जाता। डाक्टर साहब मूढ़े पर बैठ गए। लड़की ने माँ के कान में ज़ोर से आवाज़ दी कि डाक्टर साहब आ गये। माँ

ने मुँह पर से लिहाफ़ उठाया। यद्यपि बीमारी की तक-लीफ़ के कारण उसके चेहरे पर उदासी छाई थी, तथापि उस उदासी के अन्दर से भी डाक्टर साहब ने उसके हृदय की पवित्रता और मानसिक दृढ़ता की निर्मल किरणों को छनते हुए देखा। उन्होंने यह भी जान लिया कि भगवान् अदृष्ट के कोप से यद्यपि यह रोगिणी इस छोटे से मकान में टूटे-फूटे सामान के साथ रहने को विवश कर दी गई है; किन्तु एक दिन यह ज़रूर अच्छे घर और बड़े सामान के साथ किसी सुयोग्य पति के हृदय की अधिकारिणी रही होगी। रोगिणी की अवस्था ४० वर्ष के ऊपर थी। रोग और ग़रीबी ने मिल कर उसके मुख-कमल को मलिन करने में कोई कसर न छोड़ी थी; परन्तु उसके चेहरे पर जिस स्वर्गीय शान्ति का आधिपत्य था, उसे विपत्ति नहीं हटा सकी थी। रोगिणी के शान्ति-पूर्ण चेहरे को देखते ही डाक्टर के हृदय में उसके विषय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उन्होंने अपने स्वभाव-सिद्ध मीठे स्वर में पूछा—

"माँ जी, आपको क्या तकलीफ़ है? धीरे-धीरे अपनी तबीअत का हाल कह सुनाइये।"

रोगिणी ने कराहते हुए कहा—

"राजा-बाबू तुम दीनबन्धु हो; इसलिए ईश्वर-वत् पूज्य हो। मैं आपसे लज्जा छोड़ कर कुछ कहना चाहती

हूँ। आशा है, इसके लिए तुम मुझको क्षमा करोगे। संसार में मैंने किसी का एहसान नहीं उठाया; पर मरते समय तुम्हारे एहसान के नीचे मुझे दबना पड़ा। इसलिए ईश्वर तुम्हारा............"यह कहते-कहते रोगिणी के नेत्रों में आँसू भर आये।

राजा-बाबू ने बड़ी नम्रता से कहा—

"माँ जी, आप तबीअत को भारी न कीजिए। मैं आपकी सेवा के लिए तैयार हूँ। आप निस्सङ्कोच आज्ञा कीजिये, पर पहले रोग का हाल तो कहिए।"

"डाक्टर साहब, रोग का हाल कुछ नहीं। समय पूरा हो गया है। अब मैं आप से जो कुछ कहना चाहती हूँ, उसे सुन लीजिए। सरला—जो आपके पीछे खड़ी हुई है—मेरी एकमात्र कन्या है। यह अब अनाथ होती है। इसको मैं आपके सिपुर्द करती हूँ। इसका विवाह मैं न कर सकी; इसलिए मुझे आप से इतनी बड़ी भिक्षा माँगनी पड़ी। यह घर के काम-काज में होशियार है। जो कुछ मैं जानती थी और बता सकती थी, उसकी शिक्षा मैंने इसको दे दी है। यह आपकी सेवा करेगी। मुझे पूर्ण आशा है कि यह आपको प्रसन्न रक्खेगी। समय आने पर आप इसका किसी पढ़े-लिखे ब्राह्मण-वर के साथ विवाह कर दें। बस मेरी यही प्रार्थना है। और, हाँ

यह एक पैकेट हैं, जिसमें दो लिफाफ़े हैं। इनको आप मेरी मृत्यु के एक वर्ष बाद जब चाहें पढ़ें। उनमें मेरा परिचय है—जिसको बताने की और आपको जानने की इस समय ज़रूरत नहीं। दूसरों का उपकार करने वाले सदा सङ्कट में ही रहते हैं। आप भी परोपकाररत हैं; इसलिए आपको भी बेवास्ते इन संकटों में पड़ना पड़ा।"

इस प्रकार कहते-कहते उसका गला भर आया।

राजा-बाबू ने उत्तर दिया—

"माँ जी, मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष स्वीकार करता हूँ। मैं आपकी कन्या को सन्तान-वत् रक्खूँगा। मेरे घर में कोई बालक नहीं। माताजी सरला को पाकर यथार्थ में बहुत प्रसन्न होंगी। समय आने पर मैं इसका विवाह भी कर दूँगा; पर आप इतना निराश क्यों होती हैं। मुझे आशा है, आप अच्छी हो जायँगीं।"

इसके बाद डाक्टर साहब ने रोगिणी की नब्ज़ आदि देखी। देखने से डाक्टर साहब को मालूम हो गया कि रोगिणी का रोग विषयक बयान बहुत कुछ ठीक है।

उसी दिन शाम को रोगिणी इस संसार से चल बसी।

२

विस्मृति भी बड़े काम की चीज़ है। यह न होती, तो मनुष्य का जीवन बहुत बुरा हो जाता। जन्म से लेकर

आज तक हमको जिन-जिन दुःखों, क्लेशों और सङ्कटों का सामना करना पड़ा है; वे सब-के-सब यदि हर समय हमारी आँखों के सामने खड़े रहते, तो हमारा जीवन भयानक हो जाता। अकेली विस्मृति ही उनसे हमारी रक्षा करती है।

सरला ने मातृ-वियोग को सह लिया। माता की याद धीरे-धीरे विस्मृति के गर्भ में छिपने लगी। अब उसकी जीवन-पुस्तक का एक नया, पर चमचमाता हुआ, पृष्ठ खुला। छोटे-से-झोंपड़े से निकल कर अब उसने महल को मात करने वाले डाक्टर राजा-बाबू के मकान में प्रवेश किया। माता की छत्रच्छाया उठ गई, डाक्टर की वृद्धा माता की गोद का आश्रय मिला; पर उसमें भी उसने वही स्नेह-रस-परिप्लुत अभय-दान पाया।

सरला ने पहले तो कुछ सङ्कोच अनुभव किया; पर अन्नपूर्णा की ममता-पूर्ण और डाक्टर साहब की स्नेह-भरी बातों ने उसको बता दिया कि वह मानों अपने ही घर में है। डाक्टर साहब ने सरला की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध कर दिया।

सरला भी डाक्टर साहब की यथा-शक्य सेवा करने लगी। पर नौकरों की तरह नहीं, घर के बच्चे की तरह। वह डाक्टर साहब को अपने हाथ से भोजन कराती।

अन्नपूर्णाजी यद्यपि अपने देवोपम पुत्र के लिए स्वयं ही भोजन तैयार करतीं; पर सरला फिर भी उनको कुछ कम सहायता न देती। सरला को धीरे-धीरे पाक-शास्त्र की शिक्षा मिलने लगी। वृद्धा अन्नपूर्णा के निरीक्षण में निरामिषभोजी डाक्टर साहब के लिए विविध प्रकार के शाक, खीर, हलुआ आदि अनेक सुस्वादु और पौष्टिक पदार्थ वह बनाने लगी। प्रातःकाल होते ही, अन्नपूर्णा की पूजा का सामान भी वह ठीक कर देती। घर के बगीचे से फूल लाकर सजा देती और चन्दन आदि सामग्री यथास्थान रख देती। अपनी सेवा और सुस्वभाव से—मतलब यह कि—सरला ने डाक्टर साहब और उनकी वृद्धा माता के हृदय में सन्तान से बढ़कर स्नेह पैदा कर लिया।

बड़े दिन की छुट्टियों में सतीश घर आया। उसने देखा कि घर में एक देवी-स्वरूपिणी कन्या रहती है। उसके आलोक से उसने मानों सारा मकान आलोकित पाया। मामा से पूछने पर उसको मालूम हुआ कि वह भी उनकी एक आत्मीया है और कुछ दिनों तक उनके यहाँ रहने के लिए चली आई है। दो-चार दिन तक सतीश को उसके साथ बात-चीत करने में संकोच-सा मालूम हुआ। उधर सलज्जा सरला भी एक नये आदमी के साथ बात-चीत करने में झिझकती रही; पर कुछ दिनों में दोनों की

तबीअतें खुल गईं। फिर तो वे आपस में खूब आलाप करने लगे। सतीश ने सरला से कभी उसका परिचय न पूछा; क्योंकि वह मामाजी की बात को वेद-भगवान् की बात समझता था। न सरला ने ही अपना प्रकृत परिचय देने की आवश्यकता समझी। इसमें सन्देह नहीं कि सरला की योग्यता, गृहकार्य्य-कुशलता और उसके पवित्रता-पूर्ण आचरण पर सतीश मन से मुग्ध हो गया। सरला भी सतीश के कामों का बड़ा ध्यान रखती। सतीश प्रायः देखता कि उसके कपड़े तह किये हुए यथा-स्थान रक्खे हैं, वह अपने पढ़ने की पुस्तकें भी—जिनको वह इधर-उधर बिखरी और खुली हुई छोड़ गया था—बन्द की हुई और चुनी हुई पाता। छुट्टियों के अत्यल्प काल में ही सरला ने उसके हृदय में स्थान कर लिया। उसको न-मालूम क्यों हर समय सरला का ध्यान रहने लगा। वह अपने मन से भी इसका कारण कई दफ़े पूछकर कुछ भी उत्तर न पा सका था। परन्तु वह जाने या न जाने—और जानने की ज़रूरत भी नहीं—प्रेमदेव की पवित्र किरणों से उसका हृदयाकाश अवश्य ही आलोकित रहने लगा। वह कभी सरला को पढ़ाता—बीसियों नई-नई बातें बताता—और कभी घंटों ख़ाली इधर-उधर की बातें ही करता। मतलब यह कि इन दोनों की मैत्री दिन-पर-दिन मज़बूत होने लगी। छुट्टियाँ

समाप्त होने पर जब सतीश कालेज को जाने लगा। तब उसे मकान छोड़ने में बड़ा मीठा दर्द-रूप मोह मालूम हुआ; पर वह तत्काल सँभल गया और हमेशा की तरह मामाजी और वृद्धा के चरण छूकर सरला से आँखों-ही-आँखों उसने विदा ली।

२

सतीश सेंट्रल हिन्दू कालेज में पढ़ता है। इस वर्ष वह एम० ए० की अन्तिम परीक्षा देगा। सतीश बड़ा धार्मिक है। वैसे तो हर लड़के को जो हिन्दू-कालेज के बोर्डिंग-हाउस में रहता है, स्नान-ध्यान और धार्मिक कृत्य सम्पादन करने पड़ते हैं; किन्तु सतीश ने अपनी बाल्यावस्था के कुल वर्ष अपने मामा डाक्टर राजा-बाबू के साथ काटे हैं। इसलिए, नित्य प्रातःकाल उठना, सन्ध्योपासन करना और परोपकार के लिए दत्त-चित्त रहना उसका स्वभाव-सा हो गया है। सतीश छः वर्ष से इसी कालेज में पढ़ रहा है और हर वर्ष परीक्षा में बड़ी नामवरी के साथ पास हो रहा है। सतीश अपने दैवी गुणों के लिए सब लड़कों में प्रसिद्ध है। हरएक लड़का, किसी-न-किसी रूप में उसकी कृपा का पात्र बना है। अनेक कमज़ोर (शरीर में नहीं, पढ़ाई में) लड़कों ने उससे पढ़ा है; अनेक ग़रीब विद्यार्थियों की उसने आर्थिक सहायता की है।

किसी लड़के के रोग-ग्रस्त होने पर सहोदरवत् उसने उस की शुश्रूषा भी की है। इसलिए, कालेज का हर एक लड़का उसको बड़ी पूज्य-दृष्टि से देखता है। सतीश के पासवाले कमरे में रामसुन्दर-नामक एक लड़का रहता है। वह दो वर्ष से इस कालेज में पढ़ता है, पर है सतीश का सहाध्यायी ही। यह लड़का घर का मालदार होते हुए भी विद्या का बड़ा प्रेमी है। इसके पिता का हाल में स्वर्ग-वास हो गया है और यह बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक हुआ है। पर, फिर भी, इसने पढ़ना नहीं छोड़ा। सतीश के साथ इसकी बड़ी घनिष्ठता है। सतीश और रामसुन्दर की प्रकृति अनेक अंशों में एक सी है। इसी लिए इन दोनों में खूब मित्रता है। सतीश और रामसुन्दर छुट्टी के समय प्रायः एक ही साथ रहते हैं।

सतीश और रामसुन्दर एक नाव पर बैठे हुए हैं। नाव पुण्यतोया भागीरथी में धीरे-धीरे बह रही है। ग्रीष्म ऋतु की सन्ध्या है। बड़ा लुभावना दृश्य है। तारों का बिम्ब गङ्गाजल में पड़कर अजीब बहार दिखा रहा है। सच तो यह है कि इस "शाम" के सामने "शामे लखनऊ" कुछ भी चीज़ नहीं। नाववाला बड़े मीठे स्वर में गीत गा रहा है। उसकी आवाज़ गङ्गा के तट के अट्टालिका-सम ऊँचे स्थानों से टकराकर मानों कई

गुनी होकर वापिस आ रही है। ये दोनों मित्र आपस में खूब घुल-घुलकर बातें कर रहे हैं। अन्त में सतीश ने कहा—

"मित्र, तुम्हारा हृदय बहुत विशाल है। इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ। जहाँ तक मेरी शक्ति है, मैं तुम को इस पुण्य-कार्य में सहायता दूँगा। तीन मास बाद कालेज बन्द होगा। उस समय तीन मास से अधिक का अवकाश मिलेगा। उसमें मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। जहाँ तुम चलोगे, मैं चलूँगा। जहाँ तक पता चलेगा, मैं तुम्हारे मनोरथ के साफल्य के लिए प्रयत्न करूँगा। इस समय इस काम को ईश्वर के ऊपर छोड़ो। परीक्षा के दिन बहुत कम रह गये हैं। इसलिए सब ओर से मन हटाकर इसी ओर लगाना चाहिए। परीक्षा से निवृत्त होकर अपनी सब शक्तियाँ उधर लगाएँगे। मैं तुम्हारा साथ दूँगा।"

रामसुन्दर—भाई सतीश, मुझे तुम्हारा बहुत भरोसा है। पूर्ण आशा है कि यदि तुम-जैसे परोपकार-व्रती और देवोपम मित्र ने प्रयत्न किया, तो मेरा यह कार्य्य—जिस के कारण मेरी निद्रा और मेरी भूख, दोनों नष्ट हो गई हैं—ज़रूर सिद्ध हो जायगा। मित्र, तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

'यद्यपि जग दारुण दुख नाना ।
सबतें कठिन जाति-अपमाना ।'

नाव धीरे-धीरे किनारे पर आ लगी और ये दोनों नवयुवक उससे उतर कर कालेज की ओर चल दिये ।

४

सरला की माता को मरे दो वर्ष बीत गये । सरला निश्चिन्तता-पूर्वक डाक्टर-बाबू के यहाँ रहती है । उसको अपनी माता की याद आती है जरूर; पर डाक्टर और उसकी वृद्धा माता के सद्व्यवहार से उसको कोई कष्ट नहीं । बल्कि, यह कहना चाहिये कि कोई ऐसा सुख नहीं, जो उसको प्राप्त न हो । राजा-बाबू उसको अपनी ही पुत्री समझते हैं । उसने भी अपने गुणों से उनको खूब प्रसन्न कर रक्खा है ।

राजा-बाबू ने दो वर्ष बाद उस लिफ़ाफ़े को खोला जिसको पढ़ने की आज्ञा सरला की माता, मरते समय दे गई थी । उसमें दो लिफ़ाफ़े थे । जिस पर नम्बर एक पड़ा था, उसको खोलकर डाक्टर साहब पढ़ने लगे । उसमें लिखा था—

"आप मेरे परम हितैषी हैं । जो ऐसा न होता, तो यह लिफ़ाफ़ा आप न पढ़ते । अब तक यह कब का अग्निदेव के सिपुर्द हो चुका होता । आप मेरी कन्या के

संरक्षक हैं। इस कारण मैं आप से नीचे लिखा वृत्तान्त कहती हूँ। सुनिये—

"मेरे पति दो भाई थे। पति की मृत्यु के बाद मेरे जेठ ने मुझ से अच्छा व्यवहार न किया। उन्होंने एक दिन क्रोध-वश मुझे मकान से निकल जाने तक की आज्ञा दे दी। मेरे पति ने मरते समय, बिना विचार किये ही, अपने भाई की आज्ञा का पालन करने का आदेश मुझे दिया था; इसलिए स्वर्ग-गत पतिदेव की आज्ञा का स्मरण करके मुझे अपने जेठ की अत्यन्त अनुचित और अकारण दी हुई आज्ञा को शिरोधार्य्य करना पड़ा। मैं अपनी एकमात्र कन्या को लेकर घर से निकल चली। ओफ! कैसी भीषण रात्रि थी। उस समय के दुःख का हाल किसी भले और सम्मान्य घर की स्त्री के मन से ही पूछना चाहिए। मेरे शरीर पर कुछ आभूषण थे। उन्हीं के सहारे मैं कई सौ मील की यात्रा करके यहाँ आई और एक साधारण-सा मकान लेकर रहने लगी। मैंने जीवन भर प्रतिष्ठा के साथ अपना और अपनी प्यारी बेटी का पेट पाला। मैंने 'आन को रक्खा जान गँवा कर'। बस मेरा यही रहस्य है। अब यदि आप मेरा पूरा परिचय प्राप्त करना चाहें, तो दूसरे लिफाफे को खोलिए। उसमें आपको मेरे जेठ का लिखा हुआ एक रजिस्टर्ड इक़रारनामा

मिलेगा। उसमें उन्होंने मेरे पति की सम्पत्ति को मेरी सम्पत्ति से अलग, अर्थात् विभक्त बताया है। उसमें मेरे पतिदेव का पूरा पता भी प्रसङ्गवश आ गया है। उसको आप साधारण काग़ज़ न समझिये। उसके द्वारा मेरी एकमात्र कन्या सरला—ईश्वर उसे सानन्द रक्खे—एक दिन लाख रुपये से अधिक मूल्य वाली सम्पत्ति की अधिकारिणी बन सकती है; पर मैं नहीं चाहती कि उसका प्रयोग किया जाय। मुझे पूर्ण आशा है कि मेरी सरला अपने गुणों के कारण ही बहुत बड़ी सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी।

अन्त में, मैं आपको हृदय से आशीर्वाद देती हूँ कि ईश्वर आपका भला करे; क्योंकि आपने मेरा और मेरी कन्या का भला किया है।"

डाक्टर राजनाथ को पत्र पढ़ कर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बहुत देर तक ईश्वरीय माया और मरने वाली सती की दृढ़ प्रतिज्ञा पर विचार करते रहे। उन्होंने दूसरा लिफ़ाफ़ा बिना पढ़े ही अपने बक्स में बन्द कर दिया।

५

जब डाक्टर राजनाथ ने सतीश के पत्र में यह पढ़ा कि वह परीक्षा देकर मकान पर न आवेगा, तब उनको बड़ी चिन्ता हुई। उसका विचार कुछ दिन इधर-उधर

घूमने का है। और खर्च के लिए पाँच सौ रुपये माँगे हैं। डाक्टर राजनाथ ने पाँच सौ रुपये का नोट नीचे लिखी चिट्ठी के साथ उसके पास भेज दिया—

"प्रिय सतीश,

मुझे बड़ा विस्मय है कि तुम किधर जा रहे हो और क्यों? माताजी तुमको देखने के लिए बड़ी व्यग्र हैं। पर, मुझे भरोसा है, कि तुम किसी अच्छे उद्देश्य से ही जा रहे हो। खर्च भेजता हूँ। यथासाध्य शीघ्र लौटना।

शुभानुध्यायी—

राजनाथ।"

पाँचवें-छठे दिन इसका उत्तर आ गया। उसमें लिखा था—

"पूज्य मामाजी, प्रणाम।

कृपापत्र और ५००) के नोट मिले। मेरे मित्र पंडित रामसुंदर को आप जानते ही हैं। उनका एक बहुत ही आवश्यक कार्य्य है, जिसमें वे मेरी सहायता चाहते हैं। उस कार्य्य के लिए इधर-उधर घूमना पड़ेगा। मैं आपको पहले पत्र में ही वह कार्य्य बता देता, जिसके लिए यह तैयारी है; पर उसको गुप्त रखने के लिए उन्होंने ताकीद कर दी है। अब आप यदि आज्ञा दें, तो मैं उनके साथ चला जाऊँ। आपके उत्तर की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

सेवक—

सतीश।"

पत्र को पढ़कर राजा-बाबू कुछ देर तक सोचते रहे। फिर उन्होंने नीचे लिखा हुआ प्रत्युत्तर अपने भानजे को भेजा—

"प्रिय सतीश,

मैं बड़ी प्रसन्नता से तुमको अपने मित्र के कार्य्य में सहायता देने की आज्ञा देता हूँ। खर्च के लिए जिस क़दर रुपये की और जरूरत हो, निस्सङ्कोच मँगा लेना। यात्रा से लौटते समय अपने मित्र को भी एक दिन के लिए इधर लाना। उनको बहुत दिनों से मैंने नहीं देखा। देखने को तबीअत चाहती है। आशा है, वे मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे।

शुभैषी—

राजनाथ।"

राजा-बाबू ने पत्र समाप्त ही किया था कि सरला ने चाँदी की तश्तरी में कुछ तराशे हुए फल उनके सामने रख दिये। राजा-बाबू फल खाते-खाते सरला से इधर-उधर की बातें करने लगे।

(६)

गरमी की बड़ी छुट्टियों के ८-१० दिन ही बाकी हैं। सतीश ने अब की बार छुट्टी के तीनों महीने बाहर ही काटे। कल उसकी चिट्ठी आई है कि वह आज रात को राम-

सुन्दर, सहित मकान पहुँचेगा। उसका कमरा साफ़ किया गया है। वृद्धा माता भी आज बड़ी खुशी से भोजन बना रही हैं। सरला के मन की आज अद्भुत दशा है। कभी तो वह हर्ष के मारे उछलने लगता है और कभी किसी अज्ञात कारण से उसकी गति और भी कम पड़ जाती है। उसका मुख-सरोज घड़ी-घड़ी पर इन भावों के अस्तोदय के साथ खिलता और मुरझाता है। उसने यह भी सुना है कि सतीश के साथ उसके मित्र भी आवेंगे, जिनके काम में उसने अपनी सारी छुट्टियाँ ख़र्च की हैं। सरला मन-ही-मन सतीश के मित्र पर नाराज़ भी है; क्योंकि उसके कारण ही सतीश की छुट्टियों से वह फ़ायदा नहीं उठा सकी।

सतीश रात के ९ बजे की ट्रेन से मकान पहुँच गया। राजा-बाबू उसकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे। उन्होंने बड़े प्रेम से रामसुन्दर को अपने पास बिठाया और बड़े आग्रह से पूछा—"मुझे आशा है, तुम अपनी चेष्टाओं में अवश्य सफल हुए होगे।" रामसुन्दर ने निराशा-भरी आवाज़ में उत्तर दिया—"सफलता का कोई चिह्न नहीं मिला। भविष्यत् के लिए कोई आशा भी बाकी नहीं रही।" इस पर डाक्टर साहब ने उसे ढाढ़स देकर उसके चित्त क्षोभ को बहुत कुछ कम कर दिया।

सतीश मामाजी के चरण छूकर अन्दर गया।

सरला को देखते ही उसका मुख-कमल खिल उठा। उसने देखा कि उसके काम की हर चीज़ ठीक रक्खी हुई है और बड़ी सावधानी से उसके आने की बाट देखी जा रही है। सरला ने मुसकरा कर, पर ताने के साथ, पूछा—

"अब की बार आपने कुल छुट्टियाँ बाहर ही बिता दीं?"

"मित्र के काम के लिए यह सब करना पड़ा, पर कोई फल न हुआ। इसके लिए मुझे भी दुःख है।"

"आपके मित्र का ऐसा क्या काम था, जिसके लिए तीन महीने इधर-उधर घूमना पड़ा और फिर भी वह न हो सका?"

उस काम का ज़िक्र करने से भी, सरला, मुझे दुःख होता है। इसलिए, सुनकर तुम भी दुःखी हुए बिना न रह सकोगी। भोजन की बात तो कहो, क्या देर है? भूख लग रही है।"

"बिलकुल तैयार है। मैं जाकर नौकर से आसन बिछाने के लिए कहती हूँ। आप, मामाजी और अपने मित्र को साथ लेकर आइए।"

यह कह कर सरला बड़ी फुरती से चली गई। उसने बड़े क़रीने से भोजन चुनना शुरू किया। तीन

थालों में भोजन चुना। जिन चीज़ों को गरम रखने की ज़रूरत थी, वे अभी तक गरम पानी में रक्खी हुई थीं; भोजन के साथ नहीं परोसीं गई थीं। थोड़ी देर में डाक्टर साहब, सतीश और रामसुन्दर के साथ आ पहुँचे। भोजन शुरू हुआ, सरला ने बड़ी होशियारी से परोसना आरम्भ किया। भोजन करते समय इधर-उधर की बातें होने लगीं—

सतीश—मामाजी, स्टेशनों पर बहुत बुरा भोजन मिलता है। भाई रामसुन्दर, बलिया के स्टेशन की पूरियाँ याद हैं?

रामसुन्दर—और लखनऊ के स्टेशन के 'निखालिस दूध' को तो कभी न भूलिएगा।

सतीश—पर, तरकारी तो किसी भी स्टेशन की भूलने की नहीं।

डा० सा०—ऐसे मौक़ों पर तो फल खा लेने चाहिए।

सतीश—मामाजी, बड़े स्टेशनों को छोड़ कर और स्टेशनों पर फल नहीं मिलते।

बातें भी जारी थीं। खाना भी जारी था। सरला का परोसना भी जारी था। रामसुन्दर यद्यपि बातों में योग दे रहा था; पर उसका ध्यान सरला ही की ओर था।

वह बार-बार उसी को देखता था। उसकी इस हरकत से सतीश को थोड़ी-सी भीतरी ज़लन पैदा हुई। मानिनी सरला ने भी मन में कुछ बुरा माना। भोजन साङ्ग हुआ। रामसुन्दर और सतीश ने एक कण्ठ से कहा—"तीन महीने में आज ही तृप्त होकर भोजन किया है।"

चलते समय रामसुन्दर ने मुड़कर एक बार फिर सरला को देखा। अब की बार तो सतीश जल ही गया। दोनों मित्र बाहर आए। सतीश को गुस्सा आ ही रहा था कि रामसुन्दर की इस बेहूदा हरकत पर उसको लानत-मलामत दे कि इतने ही में उसने पूछा—

"भाई, यह लड़की कौन है ? जब मैं पहले तुम्हारे यहाँ आया था, तब तो यहाँ यह न थी।"

मानों सतीश की प्रदीप्त क्रोधाग्नि पर मिट्टी का तेल पड़ा। उसने बड़ी घृणा के साथ कहा—

'रामसुन्दर, तुम बड़े नीच हो। जब तक खाते रहे, तब तक उसकी ओर घूरते रहे। जब खाकर बाहर आये, तब फिर-फिरकर उसकी ओर देखा किये। अब तुम्हारी नीचता इतनी बढ़ गई कि मुझसे भी उसी प्रकार के प्रश्न करने लगे। मुझे तुम्हारी नैतिक अवस्था पर बड़ा दुःख है।'

सतीश की यह बकवास सुनकर रामसुन्दर को ज़रा भी क्रोध न आया। उसने बड़े विनीत भाव से कहा—

"भाई साहब, आप क्या कह रहे हैं? जो कुछ आपने मेरे आचरण के विषय में कहा; ठीक है; पर यह आचरण किस दृष्टि से देखना चाहिये, इस पर आपने विचार नहीं किया। मैं समझता हूँ कि हमारा सैकड़ों मील इधर-उधर घूमना बेकार हुआ। जिसकी हमको तलाश थी, वह हमारे ही घर में मौजूद है। मैं सच कहता हूँ कि कई बार मेरे जी में आया कि अपनी नन्ही को हृदय से लगा लूँ। आप मामाजी से इसके विषय में पूछिए तो। मेरा हृदय कूद रहा है। कार्य सिद्ध हो गया।"

बड़े ही विस्मय और लज्जा के साथ सतीश ने पूछा—"रामसुन्दर क्या सच कहते हो, यही तुम्हारी बहन नन्ही है?"

"मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी, जब प्यारी नन्ही हमसे जुदा हुई थी। मुझे अब तक उसका चेहरा ख़ूब याद है। वह हँसता हुआ और स्वर्गीय कान्ति-पूर्ण चेहरा आज भी मेरी आँखों के सामने फिर रहा है। सरला से उसका चेहरा बहुत मिलता है। मुझे ख़ूब याद है, उस के गाल पर दो छोटे-छोटे स्याह तिल थे। सरला के चेहरे पर भी वैसे ही हैं। चलिए, मामाजी से इसके विषय में पूछ-ताछ करें।"

दोनों मित्र तत्काल डाक्टर साहब के कमरे में आये। डाक्टर साहब आराम-कुरसी पर लेटे कोई व्यवसाय-सम्बन्धी पुस्तक पढ़ना ही चाहते थे कि ये दोनों वहाँ पहुँच गये। उन्होंने कहा—

"सतीश, अब आराम करो। बहुत थके हो।"

सतीश ने धीरे से कहा—"मामाजी, रामसुन्दर सरला के विषय में आपसे कुछ पूछना चाहते हैं!"

डाक्टर साहब ने भाव-पूर्णदृष्टि से रामसुन्दर को देखा, जिसका चेहरा हर्ष और विस्मय के मिले हुए भाव से एक विशेष प्रकार का आकार धारण कर रहा था।

डाक्टर साहब ने कहा—

"सरला के विषय में आप क्या और क्यों पूछना चाहते हैं?"

रामसुन्दर बड़े विनीत भाव से बोला—

"मामाजी! आज मैं अपने घर का एक रहस्य सुनाता हूँ। उसी विषय में मैं और भाई सतीश इधर-उधर सैकड़ों मील घूमा किये। मगर सफलता तो क्या, उसके चिह्न तक भी नहीं मिले। अब मैं उस रहस्य को सुनाता हूँ। मेरे पिता दो भाई थे—रामप्रसाद और शिवप्रसाद। रामप्रसादजी मेरे पिता थे। शिवप्रसादजी के एक कन्या

थी, जिसको घर के लोग स्नेह-वश नन्ही कहा करते थे। वह मुझसे छः वर्ष छोटी थी। मेरे चाचा—नन्ही के पिता—का देहान्त मेरे पिता के सामने ही हो गया था। मेरी चाचीजी का स्वभाव बड़ा उग्र था। वे अपनी आन की बड़ी पक्की थीं। एक दिन मेरे पिता ने किसी घरेलू बात पर गुस्सा होकर उनसे घर से निकल जाने की बहुत ही बुरी बात कह दी। उसके लिए उनको सदा पश्चात्ताप रहा और इस बड़े भारी कलङ्क को साथ लिये ही उन्होंने इह-लोक को त्याग किया। मेरी चाची ने उसी रात को घर छोड़ दिया। नन्ही को भी वे साथ ले गईं। मेरे पिता ने बहुत तलाश की; पर पता न लगा। मरते समय उन्होंने मुझको अन्तिम नसीहत के तौर पर यही कहा कि 'जिस तरह हो, अपनी चाची और बहन का पता लगाना। यदि पता लग जाय, तो उनकी सम्पत्ति मय उस दिन तक के सूद के उनको दे देना। इस तरह मेरी आत्मा के कलङ्क को धोने की चेष्टा करना। मेरा गया-श्राद्ध इसे ही समझना। यदि पता न लगे, तो तू भी विवाह मत करना। अपने शरीर के साथ ही वंश की समाप्ति कर देना, क्योंकि इस कलङ्क के साथ वंश-वृद्धि करना मानों कलङ्क को ज़िन्दा रखना है। बेटा, वंश-नाश ही इस पाप का एक छोटा-सा; पर भयानक प्रायश्चित्त है। आशा है, तुम इस

प्रायश्चित्त-द्वारा, मेरे कारण अपने वंश पर लगे इस कलङ्क से उसको मुक्त करने का—जरूरत हुई तो – सुप्रयत्न करोगे।' यह कहते-कहते मेरे पिता के प्राण-पखेरू उड़ गये। उनकी मृत्यु के बाद से ही मैं व्यग्र था कि इस विषय में क्या करूँ। भाई सतीशचन्द्र से मैंने अपना रहस्य खोलकर कह दिया था और इन्होंने सदा की तरह मेरे इस दुःख में भी भाग लेना स्वीकार कर लिया था। अब जैसा कि आपको मालूम है, हम लोग सैकड़ों मील का चक्कर और न-मालूम किन-किन मुसीबतों को झेलकर वापिस आ गये और कार्य्य-सिद्धि न हुई। पर, यहाँ आकर—यहाँ सरला को देखकर—मेरी अन्तरात्मा बार-बार यह कह रही है, कि यही मेरी बहन नन्ही है। अब आप कृपा करके यह बतलाइए कि सरला के विषय में मेरी जो यह धारणा है, उसको आप अमूलक तो नहीं समझते ?

डाक्टर साहब ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया—

"रामसुन्दर, मैं इसके उत्तर में स्वयं कुछ न कह कर तुमको वे पत्र दिये देता हूँ, जो सरला की माता ने मरते समय सरला के साथ ही मुझे सिपुर्द किये थे। मुझे प्रतीत होता है कि तुम अपनी चेष्टाओं में सफल हुआ चाहते हो।"

डाक्टर साहब ने बक्स खोल कर वे दोनों लिफ़ाफ़े

रामसुन्दर के हाथ में दे दिये, जो सरला की माता ने उनको दिये थे। रामसुन्दर ने दोनों लिफ़ाफ़ों को खोल कर पढ़ा। उनको पढ़ते ही उसको निश्चय हो गया कि उसकी चाची का ही यह पत्र है और उसके पिता का ही वह इक़रारनामा है। सरला भी प्यारी नन्ही के सिवा और कोई नहीं। रामसुन्दर डाक्टर-बाबू के चरणों पर गिर पड़ा और सतीश, जो इस अभिनय को देख कर आश्चर्य में डूब रहा था, उठकर बाहर चला गया। डाक्टर-बाबू ने सरला को बुलाया। वह तुरंत आ कर उपस्थित हो गई। रामसुन्दर भावावेश को न रोक सका और सरला को हृदय से लगा कर अश्रु-वर्षण करने लगा। यदि डाक्टर-बाबू सरला से यह न कहते, तो वह अपने को बड़ी विपत्ति में समझती—

"बेटी, ये तुम्हारे भाई रामसुन्दर हैं। तुम्हारी तलाश में बहुत दूर तक घूम आये हैं। तुम उस दिन कहती थीं कि तुम्हारी माता तुमसे कभी-कभी ज़िक्र किया करती थीं कि सरला, तुम्हारे एक भाई है। वह अवश्य एक दिन तुमको मिलेगा। आज तुम्हारी स्वर्गीया माता की भविष्यद्वाणी पूरी हुई।"

७

चार मास के बाद डाक्टर राजनाथ ने नीचे लिखा हुआ निमन्त्रण-पत्र अपने मित्रों के नाम भेजा—

"प्रिय महोदय,

मेरे भानजे श्रीसतीशचन्द्र विद्यानिधि, एम० ए० का विवाह जौनपुर के सुप्रसिद्ध रईस स्वर्गीय पंडित शिवप्रसादजी की कन्या के साथ होना निश्चित हुआ है। आपसे प्रार्थना है कि वसन्त-पञ्चमी के दिन शाम को मेरे निवास-स्थान पर पधार कर, भोज में सम्मिलित हूजिए और दूसरे दिन प्रातःकाल ९ बजे की ट्रेन से बारात में सम्मिलित हो कर मेरी मान वृद्धि कीजिए।

निवेदक—

राजनाथ।"

कहने की ज़रूरत नहीं कि सरला का विवाह सतीश के साथ बड़ी धूम-धाम से हो गया। रामसुन्दर ने उसकी कुल सम्पत्ति दहेज़ में सरला के अर्पण कर दी। आज तक रामसुन्दर और सतीश मित्रता के ही ज़बरदस्त पाश में बद्ध थे, अब वे मित्रता और आत्मीयता के डबल पाश में बेतरह जकड़ गये।

श्री जयशंकर प्रसाद

प्रसादजी का जन्म काशी के प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज वैश्य घराने में सम्वत् १९४६ वि० में हुआ था। इनके पिता अच्छे सम्पन्न व्यक्ति थे। १२ वर्ष की अवस्था तक इन्होंने स्कूल में ही शिक्षा प्राप्त की, परन्तु पिता की मृत्यु के कारण ये बहुत दिन तक स्कूल में शिक्षा प्राप्त न कर सके। फलतः इन्होंने संस्कृत, अँगरेज़ी, उर्दू, फारसी आदि का अभ्यास घर पर ही किया। ये प्रतिभाशाली कवि, कहानी-लेखक और सफल-नाटककार हैं। हिन्दी में छायावाद और भिन्नतुकान्त कविता (Blank Verse) के जन्मदाता ये ही हैं।

इनकी कहानियाँ प्रायः छोटी-छोटी होती हैं। उनमें चमत्कार विशेष रहता है। उनके शीर्षक भी कुछ विलक्षण एवं नवीन होते हैं। यह विलक्षणता प्रायः इनकी सभी रचनाओं में पाई जाती है। कहानियों के भीतर इनका विषयनिर्वाचन, शब्दचयन एवं गठन, तथा वाक्य-विन्यास इत्यादि सभी उपादान आ जाते हैं। शब्दचयन के लाक्षणिक प्रयोग अधिकतर मिलते हैं। उनसे व्यंग्यात्मक ध्वनि निकलती है। उनके सहारे पाठक मानों इस स्थूल जगत् से कल्पना के स्वर्ग में जा पहुँचता है।

वाक्य विस्तार में छोटे-छोटे होते हैं, उनसे भावों की परिपक्वता एवं दृढ़ता उद्घोषित होती है। इनकी रचनाओं में मुहावरों की न्यूनता पाई जाती है, फिर भी भाषा और भाव-व्यंजना में लचरपन नहीं आता, अपितु भाषा-सौष्ठव का जितना परिष्कृत रूप इनकी रचना में पाया जाता है, वह स्तुत्य है।

इनकी लगभग १५-१६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से कुछ एक के नाम यहाँ दिये जाते हैं—प्रेमपथिक, महाराणा का महत्व, अजातशत्रु, जन्मेजय का नागयज्ञ, विशाख, आँसू, प्रतिध्वनि, कंकाल, स्कन्दगुप्त, आकाश-दीप आदि।
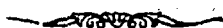
गूदड़ साईं

"साईं ! ओ साईं !!" एक लड़के ने पुकारा। साईं घूम पड़ा। उसने देखा, कि एक ८ वर्ष का बालक उसे पुकार रहा है।

आज कई दिन पर उस मुहल्ले में साईं दिखलाई पड़ा है। साईं वैरागी था;—माया नहीं, मोह नहीं। परन्तु कुछ दिनों से उसकी आदत पड़ गई थी, कि दोपहर को मोहन के घर जाता, अपने दो-तीन गंदे गूदड़ यत्न से रख कर उन्हीं पर

बैठ जाता और मोहन से बातें करता। जब कभी मोहन उसे गरीब और भिखमंगा जान कर; माँ से अभिमान करके पिता की नज़र बचा कर कुछ साग-रोटी लाकर दे देता; तब उस साईं के मुख पर पवित्र मैत्री के भावों का साम्राज्य हो जाता, गूदड़ साईं उस समय १० बरस के बालक के समान अभिमान सराहना और उलहना के आदान-प्रदान के बाद उसे बड़े चाव से खा लेता; मोहन की दी हुई एक रोटी उसकी अक्षय तृप्ति का कारण होती।

एक दिन मोहन के पिता ने देख लिया। वह बहुत बिगड़े। वह थे पाश्चात्य शिक्षा के रंग में रँगे हुए। ढोंगी फ़कीरों पर उनको साधारण और स्वाभाविक चिढ़ थी। मोहन को डाँटा, कि वह इन लोगों के साथ बातें न किया करे। साईं हँस पड़ा, चला गया।

उसके बाद आज कई दिन पर साईं आया और वह जान बूझ कर उस बालक के मकान की ओर नहीं गया; परन्तु पढ़ कर लौटते हुए मोहन ने उसे देख कर पुकारा! और वह भी लौट आया।

"मोहन!"

"तुम आज कल आते नहीं।"

"तुम्हारे बाबा बिगड़ते थे।"

"नहीं; तुम रोटी ले जाया करो।"

"भूख नहीं लगती।"

"अच्छा कल ज़रूर आना; भूलना मत !"

इतने में एक दूसरा लड़का साईं का गूदड़ खींच कर भागा। गूदड़ लेने के लिए साईं उस लड़के के पीछ दौड़ा। मोहन खड़ा देखता रहा, साईं आँखों से ओझल हो गया।

चौराहे तक दौड़ते-दौड़ते साईं को ठोकर लगी, वह गिर पड़ा, सिर से खून बहने लगा। खिझाने के लिए जो लड़का उसका गूदड़ ले कर भागा था वह डर के ठिठक रहा। दूसरी ओर से मोहन के पिता ने उसे पकड़ लिया, दूसरे हाथ से साईं को पकड़ कर उठाया। नटखट लड़के के सर पर चपत पड़ने लगी, साईं उठ कर खड़ा हो गया।

'मत मारो, मत मारो, चोट आती होगी !!" साईं ने कहा—और लड़के को छुड़ाने लगा। मोहन के पिता ने साईं से पूछा—"तब चीथड़े के लिए दौड़ते क्यों थे ?"

सिर फटने पर भी जिस को रुलाई नहीं आई थी, वही साईं लड़के को रोते देख कर रोने लगा। उसने कहा—"बाबा मेरे पास दूसरी कौन वस्तु है, जिसे देकर इन 'रामरूप' भगवान् को प्रसन्न करता !"

"तो क्या तुम इसीलिए गूदड़ रखते हो ?"

"इस चीथड़े को लेकर भागते हैं भगवान्, और मैं उनसे

लड़ कर छीन लेता हूँ; रखता हूँ फिर उन्हीं से छिनवाने के लिए, उन के मनोविनोद के लिए। सोने का खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं, पर चीथड़ों पर भगवान् ही दया करते हैं।" इतना कह कर वालक का मुँह पोंछते हुए मित्र के समान गलवाँही डाले हुए साईं चला गया।

मोहन के पिता आश्चर्य से वोले—"गूदड़ साईं! तुम निरे गूदड़ नहीं; गूदड़ी के लाल हो!!"

बनजारा

धीरे-धीरे रात खिसक चली; प्रभात के फूलों-से तारे चू पड़ना चाहते थे। विन्ध्य की शैलमाला में गिरि-पथ पर एक झुण्ड बैलों का बोझ लादे चला आता था। साथ के बनजारे उनके गले की घंटियों के मधुर स्वर में अपने ग्राम-गीतों का आलाप मिला रहे थे। शरद् ऋतु की ठंढ से भरा हुआ पवन उस दीर्घ-पथ पर किसी को खोजता हुआ दौड़ रहा था।

वे वनजारे थे। उनका काम था सरगुजा तक के जङ्गलों में जाकर व्यापार की वस्तु क्रय-विक्रय करना। प्राय: बरसात छोड़ कर वे आठ महीने यही उद्यम करते। उस परिचित पथ में चलते हुए वे अपने परिचित गीतों को कितनी ही वार उन पहाड़ी चट्टानों से टकरा चुके थे। उन गीतों में आशा, उपालम्भ, वेदना और स्मृतियों की कचट, ठेस और उदासी भरी रहती।

सब से पीछेवाले युवक ने अभी अपने आलाप को आकाश में फैलाया था, उसके गीत का अर्थ था—

"मैं बार-बार लाभ की आशा से लादने जाता हूँ; परन्तु हे उस जङ्गल की हरियाली में अपने यौवन को छिपाने वाली कोलकुमारी! तुम्हारी वस्तु बड़ी मँहगी है! मेरी सब पूँजी भी उसको क्रय करने के लिए पर्याप्त नहीं। पूँजी बढ़ाने के लिए व्यापार करता हूँ; एक दिन धनी होकर आऊँगा; परन्तु विश्वास है कि तब भी तुम्हारे सामने रङ्क ही रह जाऊँगा!"

आलाप लेकर वह जङ्गली वनस्पितयों की सुगन्ध में अपने को भूल गया। यौवन के उभार में नन्दू अपरिचित सुख की ओर जैसे अग्रसर हो रहा था। सहसा बैलों की श्रेणी के अग्रभाग में हलचल मची। तड़ातड़ का शब्द, चिल्लाने और कूदने का उत्पात होने लगा।

नन्दू का सुख-स्वप्न टूट गया। "बापरे डाका!"—कह कर वह एक पहाड़ी गहराई में उतरने लगा। गिर पड़ा, लुढ़कता हुआ नीचे चला। मूर्छित हो गया।

× × × ×

हाकिम परगना और इञ्जीनियर का पड़ाव अधिक दूर न था। डाका पड़नेवाला स्थान दूसरे ही दिन भीड़ से भर गया। गोड़ैत और सिपाहियों की दौड़-धूप चलने लगी। एक छोटी-सी पहाड़ी के नीचे, फूस की झोपड़ी में उषा की किरणों का गुच्छा सुनहले फूल के सदृश झूलने लगा था। अपने दोनों हाथों पर झुकी हुई एक साँवली सी युवती उस आहत पुरुष के मुख को एक टक देख रही थी। धीरे-धीरे युवती के मुख पर मुस्कराहट और पुरुष के मुख पर सचेष्टता के लक्षण दिखलाई देने लगे; पुरुष ने आँखें खोल दीं। युवती पास ही धरा हुआ गर्म दूध उसके मुँह में डालने लगी। और, युवक पीने लगा।

युवक को उतनी चोट नहीं थी, जितना वह भय से अकान्त था। वह दूध पीकर स्वस्थ हो चला था; उठने की चेष्टा करते हुए पूछा—"मोनी तुम हो!"

"हाँ, चुप रहो।"

"अब मैं चंगा हो गया हूँ, कुछ डरने की बात नहीं।" अभी युवक इतना ही कह पाया था कि एक

कोल—चौकीदार की क्रूर आँखें उस झोंपड़ी में झाँकने लगीं। युवती ने उसे देखा। चौकीदार ने हँसकर कहा—"वाह मोनी! डाका भी डलवाती हो और दया भी करती हो! बताओ तो कौन-कौन थे; साहब पूछ रहे हैं!"

मोनी की आँखें चढ़ गईं। उसने दाँत पीस कहा—"तुम पाजी हो! जाओ, मेरी झोंपड़ी में से निकल जाओ!"

"हाँ यह कहो, तो तुम्हारा मन रीझ गया है इस पर; यह तो कभी-कभी तुम्हारा-प्याज मेवा लेने आता था न!"—चौकीदार ने कहा।

घायल बाघिनी सी वह तड़प उठी। चौकीदार कुछ सहमा। परन्तु वह पूरा काइयाँ था, अपनी बातों का रुख बदल कर वह युवक से कहने लगा—"क्यों जी, तुम्हारा भी तो लूटा गया है, कुछ तुम्हें भी तो चोट आई है! चलो साहब से अपना हाल कहो। बहुत से माल का पता लगा है; चल कर देखो तो!"

× × × ×

"क्यों मोनी! अब जेल जाओगी न? बोलो; अब भी अच्छा है। हमारी बात मान जाओ।"—चौकीदार ने पड़ाव से दूर हथकड़ी से जकड़ी हुई मोनी से कहा। मोनी अपनी आँखों की स्याही सन्ध्या की कालिमा में

मिला रही थी। पेड़ों की उस झुरमुट में दूर वह बनजारा भी खड़ा था। एक बार मोनी ने उसकी ओर देखा, उसके ओठ फड़क उठे। वह बोली—"मैं किसी को नहीं जानती, और नहीं जानती थी कि उपकार करने जा कर यह अपमान भोगना पड़ेगा!" फिर जेल की भीषणता स्मरण करके वह दीनता से बोली—चौकीदार! मेरी झोंपड़ी और सब पेड़ ले लो; मुझे बचा दो!"

चौकीदार हँस पड़ा। बोला—"मुझे वह सब न चाहिये; बोलो तुम मेरी बात मानोगी, वही........!"

मोनी ने चिल्ला कर कहा—"नहीं, कभी नहीं!"

नर-पिशाच चौकीदार ने बे-दर्द हो कर कई थप्पड़ लगाये; पर मोनी न रोई-न चिल्लाई। वह हठी लड़के की तरह उस मारने वाले का मुँह देख रही थी।

हाकिम परगना एक अच्छे सिविलियन थे। वे कैंप से टहलने के लिये गये थे; नन्दू ने न जाने उनसे जाकर हाथ जोड़ते हुए क्या कहा, वे उधर ही चल पड़े जहाँ मोनी थी।

× × × ×

सब बातें समझ कर साहब ने मोनी की हथकड़ी खोलते हुए चौकीदार की पीठ पर दो-तीन बेत जमाये, और कहा—"देख बदमाश! आज तो तुझे छोड़ता हूँ,

फिर इस तरह का कोई काम किया, तो तुझसे चक्की ही पिसवाऊँगा। असली डाकुओं का पता लगवाओ।"

मोनी पड़ाव से चली गई। और नन्दू अपना बैल पहचानकर ले चला। वह फिर बराबर अपने उस व्यापार में लगा।

× × × ×

कई महीने बाद—

एक दिन फिर प्याज-मेवा लेने के लालच में नन्दू उसी मोनी की झोंपड़ी की ओर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने देखा झोंपड़ी के सब पत्ते छाजन तितर-बितर होकर बिखर रहे हैं और पत्थर के ढोंके अत्र-तत्र गिरना चाहते हैं। भीतर कूड़ा है, जहाँ वह पहले जंगली वस्तुओं का ढेर देखा करता था। उसने पुकारा—"मोनी!" कोई उत्तर न मिला। नन्दू लौटकर अपने पथ पर आने लगा।

सामने देखा—पहाड़ी नदी के तट पर बैठी हुई मोनी को! वह हँसता हुआ फूल कुम्हला गया था, अपने दोनों पैर नदी में डाले बैठी थी। नन्दू ने पुकारा—'मोनी।' वह फिर कुछ न बोली। अब वह पास आ गया। मोनी ने देखा। एक बार उसके मुँह पर कुछ तरावट-सी दौड़ गई, फिर सहसा कड़ी धूप निकल आने पर एक बौछार

की गीली भूमि जैसे रूखी हो जाती है, वैसे उसके मुँह पर धूल उड़ने लगी।

नन्दू ने पूछा—"मोनी! प्याज-मेवा है?"

मोनी ने रूखेपन से कहा—"अब मैं नहीं बटोरती नन्दू! बेचने के लिए नहीं इकट्ठा करती।"

नन्दू ने पूछा—"क्यों अब क्या हो गया?"

"जंगल में वही सब तो हम लोगों के भोजन के लिए है, उसे बेच दूँगी, तो खाऊँगी क्या?"

"और पहले क्या था?"

"वह लोभ था, व्यापार करने की, धन बटोरने की इच्छा थी।"

"अब वह इच्छा क्या हुई।"

"अब मैं समझती हूँ कि सब लोग न तो व्यापार कर सकते हैं और न सब वस्तु बाजार में बेची जा सकती हैं।"

"तो मैं लौट जाऊँ?"

"हाँ, लौट जाओ, जब तक ओस की बूँदों से ठंढी धूल तुम्हारे पैरों में लगे, उतने ही समय में अपना पथ समाप्त कर लो!"

"मैं लादना छोड़ दूँगा मोनी!"

"ओह! यह क्यों? मैं इस पहाड़ी पर निस्तब्ध

प्रभात में घंटियों के मधुर स्वर की आशा में अनमनी बैठी रहती हूँ। वह पहुँचने का, बोझ उतारने के व्याकुल विश्राम का अनुभव करके सुखी रहती हूँ। मैं नहीं चाहती कि किसी को लादने के लिए मैं बोझ इकट्ठा करूँ! नन्दू!"

नन्दू हताश था। वह अपने बैल की खाली पीठ पर हाथ धरे चुपचाप अपने पथ पर चलने लगा।

श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

कौशिकजी का जन्म सम्वत् १९४८ विक्रमी को अम्बाला छावनी में हुआ। पर अब ये बहुत सालों से कानपुर में रहते हैं। कानपुर की साहित्य-मण्डली में ये अच्छी प्रतिष्ठा पा चुके हैं। संगीत, फ़ोटोग्राफ़ी आदि ललितकलाओं से इनको विशेष प्रेम है और इनमें ये विशेष योग्यता भी रखते हैं।

ये कहानी-लेखक और उपन्यासकार हैं। इनके 'चित्रशाला' और 'मणिमाला' नामक दो गल्प-संग्रह और 'माँ' तथा 'भिखारिणी' नामक दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त, इन्होंने 'भीष्म' इत्यादि दो-तीन नाटक भी लिखे हैं। चाँद-माधुरी आदि पत्रिकाओं में इनकी बहुत सी कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

इनकी कहानियों में पारिवारिक अथवा कौटुम्बिक सम्बन्ध के चित्र अंकित रहते हैं और यही इनकी कहानियों की विशेषता है। इस विषय में इनकी गति अबाध है।
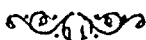
पगली

१

"अरी सुधिया! कहाँ मर गई......। भाग गई राँड, आने तो दो आज राँड की जो टाँग न तोड़ी हो।"

शाम के चार बज चुके हैं। ज्येष्ठ मास की लू के थपेड़ों के मारे अब भी कोमलांग मनुष्यों को इतना साहस नहीं होता कि शीतल कमरों को छोड़ कर बाहर निकलें। ऐसे ही समय में कमरे के द्वार पर पड़े हुए मोटे टाट के पर्दे से बाहर मुख निकाल कर एक अष्टादशवर्षीया सुन्दरी ने उपर्युक्त वाक्य कहे। ठीक उसी समय एक सुंदर युवक जिसकी उम्र लगभग बीस वर्ष की होगी, आँखों पर एक हल्के नीले रंग का एमुलेट (धूप का चश्मा) लगाये हाथ में एक छाता लिये, उसी कमरे के द्वार पर पहुँचा और सुंदरी से मुसकराते हुए बोला—"क्या है भाभी, किसकी टाँग तोड़ने की चिंता में हो?"

भाभी माथे की सिकुड़नें अधिक गहरी करके बोली—"तुम्हारी उसी लाड़ली की, जिसे तुमने सिर पर चढ़ा रक्खा है। मेरा बस चले तो मैं उस कलमुँही की सूरत न देखूँ। लाख कुछ हो, नीच फिर नीच ही है। साँप को चाहे अमृत पिलाओ; पर वह विष ही उगलेगा। जो नीच अपनी नीचता छोड़ दे, तो फिर उसमें और ऊँच में भेद ही क्या रहे। खाने के लिए तो निगोड़ी सब से पहले आ बैठेगी; पर काम की बेर पता नहीं लगता।"

युवक उसी प्रकार मुसकराता हुआ बोला—"तो आख़िर हुआ क्या?"

भाभी ने कहा—"हुआ यह कि उस राँड के मारे आज सोने को नहीं मिला। दो बेर राँड को पकड़-पकड़ बिठाया, जहाँ आँख लगी राँड ने पंखा छोड़ दिया। मारे पसीने से सारी धोती भीग गई। कभी मुई को प्यास लगी, कभी मुतास लगी। एक घंटा भी जमकर पंखा नहीं खींचा। अभी फिर ज़रा आँख लगी थी, बस छोड़ कर भाग गई।"

युवक हँसकर बोला—"निस्सन्देह काम तो दुष्टा ने बुरा किया। पर जाने दो, बच्चा है।"

भाभी ने झुँझलाकर कहा—"हूँ बच्चा है! खाने को तो निगोड़ी सब से अधिक खाती है, बातें ऐसी करती

है जानो सबकी नानी-दादी है। तुमने कह दिया, बच्चा है। आने दो तो आज राँड को।"

यह कहकर युवक की भाभी ने पर्दे के अंदर सिर खींच लिया। युवक उसी प्रकार मुसकराता हुआ उसी कमरे से मिले हुए एक दूसरे कमरे का द्वार खोलकर अंदर चला गया।

यह कमरा साधारण रूप से सजा हुआ था। दीवारों पर महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक इत्यादि नेताओं के तीन-चार बड़े-बड़े चित्र लगे थे। एक ओर अलमारी में पुस्तकें चुनी हुई थीं। एक तरफ़ एक मेज़ तथा दो कुर्सियाँ रक्खी थीं और दूसरी ओर एक पलँग पड़ा हुआ था। आधे फ़र्श पर एक श्वेत चादर बिछी और दो-तीन बड़े-बड़े तकिए रक्खे हुए थे।

युवक ने छाता एक कोने में रख दिया। एमुलेट उतारकर मेज़ पर रक्खा। इसके पश्चात् कोट तथा पैंट उतारकर धोती पहनी। धोती पहनने के पश्चात् युवक पलँग पर बैठ गया और पलँग पर पड़े हुए एक पंखे को उठाकर झलने लगा।

कुछ क्षणों के पश्चात् एक त्रयोदशवर्षीया बालिका कमरे के अंदर आई। वर्ण साँवला होने पर भी बालिका नेत्रों की सुन्दर दिखाई पड़ती थी।

उसके नेत्र अत्यन्त काले तथा बड़े-बड़े थे। भौहें भी खूब काली और घनी थीं। चेहरा गोल, मुख छोटा, नाक छोटी और सीधी तथा ओठ पतले-पतले थे। बालिका का शरीर सुडौल तथा गठीला था। वह उस समय एक साफ़ धोती तथा शलूका पहने हुए थी। बालिका द्वार पर पड़े हुए पायदान पर खड़ी हो गई। युवक को देखकर उसका चेहरा खिल उठा। उसने किवाड़ को दोनों हाथों से पकड़कर तथा उस पर अपना सिर धरकर कहा—'बाबूजी, आ गए ?" युवक सिर झुकाये बैठा था। बालिका की बात सुनकर उसने सिर उठाया और कुछ क्षण तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखता रहा। तत्पश्चात् बोला—"सुधिया आज तूने ठीक से पंखा नहीं खींचा, भाभी को गर्मी के मारे नींद नहीं आई। वह आज तुझ पर बड़ी नाराज़ हैं।"

सुधिया ने कुछ भयभीत होकर अपनी दृष्टि किवाड़ पर जमा ली, तथा उसे उँगली के नाखून से खरोंचती हुई बोली—"बाबूजी, पंखा तो खींचा था।"

युवक ने कहा—"भाभी तो कहती थीं कि कई बार तू छोड़-छोड़कर भाग गई थी।"

सुधिया मौन रही।

युवक ने मृदु स्वर में कहा—"क्यों री, बोलती नहीं ?"

सुधिया धीमे स्वर में बोली—"एक बेर पानी पीने घर गई थी।"

युवक ने कुछ मुसकराकर पूछा—"और दूसरी बेर ?"

युवक को मुसकराते देखकर सुधिया के ओठों पर भी मुसकराहट की एक हलकी रेखा दौड़ गई। उसने कहा—"बहुत ज़ोर से नींद लगी थी।"

युवक—"नींद लगी थी तो क्या सोने चली गई थी ?"

सुधिया—"नहीं, सोने नहीं, मुँह धोने। पंखा खींचने में सो जाती तो बहूजी मारतीं, इसी से मुँह धोने गई थी, जिसमें नींद न आवे।"

युवक के हृदय में एक हलकी-सी चोट लगी। युवक ने सिर झुका लिया। सुधिया उसी प्रकार किवाड़े पर नख-प्रहार करती रही।

कुछ क्षण के उपरांत युवक ने सिर उठाकर कहा—"भाभी बड़ी नाराज़ हैं।"

सुधिया ने कहा—"मैं हाथ-पैर जोड़कर मना लूँगी।"

युवक—"तुझे मारने को कहती थीं; जो मारें तो ?"

सुधिया—"मारेंगी तो मार लेंगी।"

युवक—"तेरे चोट नहीं लगेगी ?"

बालिका मौन रही।

युवक ने कहा—"फिर चुप हो गई—यहाँ आ।"

बालिका धीरे-धीरे युवक के पास पहुँची। युवक ने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"बोल तेरे चोट नहीं लगेगी?"

इस बार बालिका पूर्णतया मुसकराकर बोली—"लगेगी क्यों नहीं।"

युवक—"तो फिर?"

बालिका—"फिर क्या, चोट लगेगी तो थोड़ी देर रो लूँगी।"

युवक हँस पड़ा और हँसते हुए उठकर बोला—"चल; भाभी से तेरा मेल करा दूँ।"

२

सुधिया जाति की चमारिन है। उसका पिता बाबू चंद्रकान्त के घोड़े की साईसी करता है। सुधिया मातृहीना है। उसकी माता उसके उत्पन्न होने के दो वर्ष पश्चात् परलोक सिधार गई थी। तब से उसके पिता ने ही उसका लालन-पालन किया है।

यों तो सुधिया बाबू चन्द्रकांत के घर में उसी समय से आती जाती थी, जब कि वह अपने पैरों चलने योग्य हो गई थी और उसे बराबर भोजन-वस्त्र मिला करता था। पर जब सुधिया छः वर्ष की

हुई, तो बाबू चन्द्रकांत के छोटे भाई बाबू राधाकांत का ध्यान सुधिया की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। वह सुधिया से बड़ा स्नेह करने लगे। एक दिन बैठे-बैठे आपको यह धुन सवार हुई कि सुधिया को पढ़ाना चाहिए। बस, उसी दिन से उन्होंने उसे स्वयं पढ़ाना आरम्भ किया। उनकी इस सनक पर उनके ज्येष्ठ भ्राता पहले तो बहुत बिगड़े। उनकी भाभी भी बड़ी अप्रसन्न हुईं; बोलीं—"चमारिन को पढ़ा कर क्या सीता-सावित्री बनाओगे? नीच जाति भी कहीं पढ़ा-लिखा करती है? इन्हीं बातों से तो मालूम होता है कि घोर कलजुग (कलियुग) आ गया। वाह! अच्छी उलटी गंगा बहाते हो। चमारिनें तो अब पढ़ें-लिखेंगी और घोड़ों का दाना भले घर की स्त्रियाँ दलेंगी।" परन्तु राधाकांत ने सब की बात एक कान से सुन कर दूसरे कान से उड़ा दीं। अन्त में सब हार मान कर चुप हो गए। सुधिया के पढ़ाए-लिखाए जाने पर उसके पिता महँगू ने भी आपत्ति की थी। उसने राधाकांत से कहा था—"हुजूर, काहे को मेरा बुढ़ापा बिगाड़ते हो। यह पढ़-लिख जायगी, तो फिर काहे को मेरे पास रहेगी, कहीं किरिष्टान-विरिष्टान हो जायगी। फिर भला मुझ ग़रीब का घर इसे काहे को सुहायगा!" इसके उत्तर में राधाकांत ने कहा था—"महँगू, तुम इसकी चिंता न करो।

हमारी पढ़ाई ऐसी नहीं है जिससे यह ईसाई-धर्म में चली जाय और न ऐसी है कि तुम से किसी तरह की घृणा करने लगे। तुम किसी बात से मत डरो।"

महँगू भी यह कह कर चुप हो गया था कि "अच्छा बाबू, जैसी आपकी मरज़ी, जो करम में बदा है सो होगा। मेरी तो आपके टुकड़ों में टेर हो आई है, मैं तो आपके घर से मर कर ही निकलूँगा। इसके करम में जो बदा है सो होगा। माँ-बाप जनम के साथी हैं, करम के नहीं।"

राधाकांत की कृपा से सुधिया अब भली भाँति हिन्दी पढ़ लेती है। लिखने का अभ्यास कुछ कम है। सुधिया को पढ़ने का बड़ा शौक़ है। इतनी ही उम्र में उसने बहुत-सी अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ डाली हैं। राधाकांत जो नई पुस्तक लाते हैं, उसे सुधिया अवश्य पढ़ती है।

दोपहर का समय था। राधाकांत अपनी भाभी के कमरे में पलँग पर लेटे एक पुस्तक पढ़ रहे थे। पास ही दूसरे पलँग पर उनकी भाभी पड़ी ख़र्राटे ले रही थी। सुधिया द्वार के पास बैठी पंखा खींच रही थी और एक पुस्तक अपनी गोद में रक्खे हुए पढ़ भी रही थी। राधाकांत पढ़ने में ऐसे व्यस्त थे कि उनको समय का

व्यतीत होना विलकुल ही नहीं मालूम हो रहा था। सहसा उनको इतने ज़ोर की गर्मी मालूम हुई कि पुस्तक से उनका ध्यान हट गया। उस समय उन्हें मालूम हुआ कि वह पसीने में तर हैं। "उफ्!" कह कर उन्होंने सुधिया की ओर देखा। सुधिया किवाड़े पर अपना सिर धरे सो रही थी। गोद में पुस्तक खुली थी। दाहिना हाथ तन कर रह गया था और उसमें से पंखे की डोरी धीरे-धीरे सरक कर छूट रही थी। राधाकांत ने पसीना पोंछते हुए इस दृश्य को देखा। उन्हें सुधिया पर क्रोध आया। उन्होंने सोचा—"भाभी तभी तो इस पर रुष्ट रहती हैं—ठीक भी है। काम के समय सो जाती है। इस समय यदि भाभी जग पड़ें, तो बिना मारे न छोड़ें। दुष्टा को इसी लिए पुस्तक दे दी थी, जिसमें पढ़ती और पंखा खींचती रहे।" यह सोच कर उन्होंने सुधिया को जगाने के लिए पंखे की डोरी की ओर हाथ बढ़ाया; परन्तु इनका हाथ डोरी की ओर बढ़ कर उसे बिना खींचे ही अपने स्थान पर लौट आया। उन्होंने सोचा—"क्या करे—बेचारी को नींद आ गई। न जाने क्यों, पंखा खींचने में नींद आ ही जाती है। अच्छा है, बेचारी को थोड़ी देर सो लेने दो।"

यह सोचकर राधाकांत ने एक हाथ का पंखा उठा

लिया और झलने लगे। उनका ध्यान पुनः पुस्तक में लग गया।

कुछ क्षणों के पश्चात् सुधिया के हाथ से पंखे की डोरी छुट गई और उसका हाथ एक झटके के साथ भूमि पर गिरा। सुधिया की आँख खुल गई। उसी समय राधाकांत की भाभी की नींद भी उचट गई। नींद खुलने पर उन्होंने अपने को पसीने से तर पाया। करवट लेकर देखा कि राधाकांत हाथ का पंखा झल रहे हैं। मारे क्रोध के आँखें लाल हो गईं। उठ कर बैठ गईं। सुधिया की ओर देखा, तो उसे आँखें मलते हुए पाया। झट पलंग से उतरीं। आहट पाकर राधाकांत ने उनकी ओर दृष्टि फेरी और कहा—"क्यों भाभी?" भाभी ने इसका कोई उत्तर न दिया और सुधिया के पास जाकर उसके तीन-चार लातें मारीं और बोलीं—"हरामजादी कहीं की—जब हमें अपने ही हाथों पंखा झलना है तो तुझे क्या सूरत देखने के लिए रक्खा है, चल निकल यहाँ से, अब जो यहाँ आई, तो टाँगें तोड़ दूँगी।"

सुधिया बेचारी रोती हुई उठकर चली गई। राधाकांत ने इस घटना को देखा। वे पुस्तक देखने में इतने लीन थे कि जब तक अपनी भाभी के पलँग से उतरने का तात्पर्य ठीक-ठीक समझें, तब तक यह सब हो गया भाभी फिर पलँग पर आकर बैठ गई और बड़बड़ाने लगीं।

राधाकांत कुछ समय तक चुप रहे। तत्पश्चात् बोले—"भाभी, तुमने बेचारी को इस समय बड़ी बेदर्दी से मारा। तुम्हें ऐसा नहीं चाहिए था।"

भाभी कड़ककर बोल उठीं—'मारूँ न तो क्या करूँ? राँड काम की न काज की, मांस का लोदा। तुमने उसे पढ़ा-लिखाकर और भी बिगाड़ दिया, मुई के मिजाज ही नहीं मिलते। माँ-बाप की तो उमर घास छीलते-छीलते बीत गई, यह रामायण पढ़ती है। 'ओछे के घर तीतर, बाहर धरूँ कि भीतर।' ज़रा-सी हिंदी क्या पढ़ ली, अब अपने सामने किसी को समझती ही नहीं, रहें झोंपड़ों में, सपना देखें महलों का। दिन-ब-दिन अमीरी चढ़ती जाती है। वाह! 'मुँह लगाई डोमनी गावे ताल-बेताल।' हमने तो समझा, चलो अपने से क्या, पढ़ने-लिखने दो; पर यह तो सिर पर ही चढ़ने लगी।"

भाभी के क्रोध के सामने राधाकांत का इतना साहस न हुआ कि अधिक कुछ कह सकें। उन्होंने दबी हुई एक दीर्घ निःश्वास ली और सोचने लगे, सुधिया जाति की चमारिन है, और ग़रीब। केवल इन्हीं दो बातों से हम लोग उसका तिरस्कार और उस पर अत्याचार तक करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। जिनके शरीर में यथेष्ट बल है, जो अधिक परिश्रम कर सकते

हैं। जो अधिक कष्ट सहन कर सकते हैं, वे पैर फैलाकर आराम से सोते हैं। क्यों? इसलिए कि वे अमीर हैं और जाति में श्रेष्ठ हैं। और एक बालिका, जिसका शरीर अधिक परिश्रमशील नहीं, जिसमें खेलने तथा सोने का आधिक्य स्वाभाविक है, वह पंखा खींचती है। क्यों? केवल इसीलिए कि वह ग़रीब है और जाति की चमारिन। क्या केवल दरिद्रता और जाति की लघुता मनुष्य के अन्य सब गुणों पर पानी फेर सकती है?

राधाकांत बड़ी देर तक इसी प्रकार की बातें सोचते रहे। अंत में जब उनके विचार उन्हीं को कष्टदायक प्रतीत होने लगे, तो उन्होंने फिर पुस्तक की ओर ध्यान लगाया।

२

राधाकांत ने सुखिया से मुसकराकर कहा—"सुखिया, आज एक नई पुस्तक आई है।"

और दिन सुखिया नई पुस्तक का नाम सुनने से प्रसन्न हो जाती थी और उसके देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो जाती थी, पर आज उसके मुख पर प्रसन्नता की रेखा तक नहीं आई और न उसने पुस्तक के देखने की उत्सुकता ही प्रकट की। वह चुपचाप खड़ी रही।

राधाकांत ने कहा—"सुखिया, आज तो तू नई पुस्तक के नाम से सनकी तक नहीं। क्या बात है?"

सुधिया ने कहा—"बाबूजी, अब मैं पुस्तक नहीं पढ़ूँगी।"

राधाकांत ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा—"क्यों ?"

सुधिया—"पुस्तकें पढ़ना बुरा है।"

राधाकांत और अधिक विस्मित हो कर बोले—"बुरा है ?"

सुधिया—"हाँ।"

राधा०—"क्यों ?"

सुधिया—"जब से मैं पुस्तकें पढ़ने लगी, तब से बहूजी और सब कोई यही ताना देते हैं कि जाति की चमारिन के पुस्तक पढ़ कर मिजाज बढ़ गए।"

राधा०—"उन्हें कहने दे। उनके कहने से होता ही क्या है ?"

सुधिया—"मुझे भी बुरी लगती हैं।"

राधा०—"तुझे क्या बुरी लगती हैं ?"

सुधिया—"उनकी बातें।"

राधा०—"क्यों ?"

सुधिया—"न जाने क्यों ? पहले जब कोई कुछ कहता या मारता था, तो कुछ भी बुरा नहीं लगता था; पर अब बड़ा बुरा लगता है।"

राधा०—"क्यों बुरा लगता है ?"

सुधिया—"मैंने पुस्तकों में ऐसी-ऐसी बातें पढ़ी हैं कि अब उनके आगे लोगों का ऐसा व्यवहार अच्छा नहीं लगता।

राधा०—"क्या व्यवहार अच्छा नहीं लगता ?

सुधिया—"लोग जब चमारिन कहकर मुझे दुरदुराते हैं, तो बड़ा बुरा लगता है।"

राधाकांत ने "हूं" कह कर सिर झुका लिया और सोचने लगे—"यह सब शिक्षा का प्रभाव है, अन्यथा इसको कभी इन बातों का ध्यान स्वप्न में भी न आता।"

कुछ क्षणों के उपरांत राधाकांत ने कहा—"तो यह लोगों की भूल है। उनकी भूल के पीछे तू अपना पढ़ना-लिखना क्यों छोड़ती है ?"

सुधिया सिर झुकाए चुप रही, उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

राधाकांत ने कहा—"सुधिया, चुप क्यों हो गई ?"

सुधिया ने सिर ऊपर उठाया और बोली—'क्या कहूँ ?'

राधाकांत—"मैंने जो पूछा, उसका उत्तर दे।

सुधिया—"मैं अब पढ़ूँ-लिखूंगी नहीं। आपने मुझे पढ़ा-लिखा कर अच्छा नहीं किया।"

राधाकांत विस्मित हो कर बोले—"अच्छा नहीं किया! यह कैसे ?"

सुधिया—"पढ़ने-लिखने से मेरा जी बड़ा बुरा हो गया है।"

राधाकांत—"कैसे ?"

सुधिया—"अब जब कोई मुझे चमारिन कह कर दुरदुराता है, तो मेरे जी में यही आता है कि मैं भी उसे दुरदुराऊँ, मैं भी उससे वैसा ही व्यवहार करूँ, जैसा वह मेरे साथ करता है। यह जी का बिगड़ जाना नहीं तो और क्या है ? और जितने लड़की लड़के हैं, मेरे पिता हैं, उनका जी नहीं बिगड़ा है, वे किसी के कहने का कुछ भी बुरा नहीं मानते।"

राधाकांत—"तो क्या तू समझती है कि वे पढ़े-लिखे नहीं, इसलिए उन्हें बुरा नहीं लगता ?"

सुधिया—"हाँ, मैं तो यही समझती हूँ; पर मेरा समझना ठीक है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकती।

राधाकांत—"हाँ, यह ठीक हो सकता है; पर लोगों को बकने दे, मैं तो तेरे साथ कभी इस तरह का व्यवहार नहीं करता ?"

सुधिया नीरव रही

राधाकांत—"बोल, मैंने क्या कभी ऐसा किया है ?" सुधिया ने कुछ उत्तर न दिया।

राधाकांत उसके निकट जाकर और उसका हाथ पकड़कर बोले—"बोलती क्यों नहीं ?"

सुधिया धीमे स्वर में वोली—"क्या वोलूँ ?"

राधाकांत—"मैंने तेरे साथ कभी ऐसा व्यवहार किया है ?"

सुधिया—"एक दिन धोखे से मैंने आपका पनडब्बा छू लिया था, तव आपने मुझे मारा था।"

राधाकांत सुधिया का हाथ छोड़कर वोले—"ओह ! वह तो वात ही दूसरी थी। तूने मेरा पनडब्बा छूत (अशुद्ध) कर दिया था।"

सुधिया ने एक वार राधाकांत को सिर से पैर तक और एक वार अपने शरीर की ओर देखा। फिर दीर्घ निःश्वास लेकर रह गई।

राधाकांत—"क्या सोचती है सुधिया ?"

सुधिया—"वावूजी, मैंने एक दिन एक पुस्तक में पढ़ा था कि जो नीच जाति ईसाई हो जाते हैं, उनसे ईसाई लोग तथा अँगरेज़ लोग घृणा नहीं करते। वे उनके साथ वैठकर भोजन करते हैं।"

राधाकांत—"अरे अँगरेज़ों और ईसाइयों की क्या ! वे तो मुसलमानों के साथ भी वैठकर खा लेते हैं। पर हम लोगों के धर्म में यह वात नहीं है। हमारे यहाँ नीच जाति के लोग अछूत समझे जाते हैं।"

सुधिया—"वावूजी मेरी समझ में एक वात नहीं

आती। मैंने कई वेर पूछना चाहा पर पूछ न सकी।"

राधाकांत—"कौन-सी वात ?"

सुधिया—"मैं रोज नहाती हूँ ; रोज़ अपने कपड़े धो डालती हूँ। फिर भी जब मैं कोई आपके यहाँ का वर्तन छू लेती हूँ, तो वह छूत (अशुद्ध) हो जाता है। मेरे शरीर में ऐसी कौन-सी वात है जो अछूत समझी जाती है ? कहारों को मैंने देखा है कि कपड़े मैले पहने रहते हैं, दो-दो तीन-तीन दिन तक नहाते भी नहीं, फिर भी उनकी छुई हुई चीज़ें खा-पी ली जाती हैं। इससे मेरी समझ में यही आता है कि मेरे शरीर ही में कोई ऐसी वात है।"

राधाकांत सुधिया की वातें सुनकर सन्नाटे में आ गए।

उन्होंने सोचा—इसका क्या उत्तर दूँ ? प्रश्न वड़ा वेढब है। कुछ तो कहना ही चाहिए अन्यथा यह समझेगी कि मेरे पास इसका कोई उत्तर ही नहीं। यह सोच कर राधाकांत ने कहा—"वात यह है कि हमारे धर्म-शास्त्रों में जिन जातियों को अछूत वताया गया है, उन्हें हम लोग अव तक अछूत मानते चले आ रहे हैं। परन्तु उन जातियों को क्यों अछूत माना गया है, इसका ठीक ठीक कारण हम नहीं वता सकते। संभव है, उनके व्यवसाय के अनुसार ही ऐसा हो—उनके गंदे और अपवित्र रहने से ऐसा नियम वना लिया गया हो।"

सुधिया—"और जो गंदा न रहे तो ?"

राधाकांत सिर खुजलाते हुए बोले—"हाँ, गंदा न रहे तो अच्छा ही है। पर जिनको इतने समय से अछूत मानते आए हैं, उन्हें अब कैसे पवित्र मान सकते हैं ? मैं हृदय से तो यह मानता हूँ कि यदि नीच जाति के लोग सफ़ाई से रहें तो उन्हें अछूत न समझा जाय। पर मैं इसको कार्यरूप में परिणत नहीं कर सकता। लोग नक्कू बनावें; फिर मेरे हाथ का छुआ कोई पानी न पिए।"

सुधिया सिर झुकाए चुपचाप सुनती रही। कुछ क्षणों के उपरांत उसने सिर उठाया। उसके नेत्रों में आँसू छलछला रहे थे। उसने कहा—"जब यह बात थी तो बाबूजी, आपने मुझे क्यों पढ़ाया-लिखाया ? हमारी जाति के लोगों का अपढ़ रहना ही अच्छा है।"

राधाकांत—"तू तो बिलकुल पगली है। आज तुझे न-जाने क्या हो गया है ?"

सुधिया—"बाबूजी मुझे हुआ-हुआया कुछ नहीं। मैं अब पढ़ूँ-लिखूँगी नहीं। जो कुछ पढ़ा-लिखा है, उसे भी भूलने की चेष्टा करूँगी।"

यह कह कर सुधिया चली गई।

× × × ×

पाँच वर्ष पश्चात् ।

एक गाँव में झोंपड़े के आगे अलाव लगा हुआ है। उसके चारों ओर चार-पाँच आदमी बैठे ताप रहे हैं। इतने में एक आदमी ने कहा—"इनता दिन चढ़ गया, आज अभी पगली नहीं निकली।"

एक वृद्ध ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—"भइया, उसका दिमाग अभी ठीक नहीं हुआ। क्या कहें, करम में जो बदा था सो हुआ। जिनके यहाँ हम नौकर थे, उन्होंने भी बड़ी दवा-दारू की। मैंने उन्हें मना किया था कि इसे न पढ़ाओ;पर अपनी अक्लि (अक्ल) के सामने हम गँवारों की कौन सुनता है ? भइया, न जाने क्या हो गया कि किताब देखे उसे डर लगता है। जितनी किताबें पास थीं, सब जला दीं।

ठीक उसी समय एक युवती, जिसकी उम्र १८-१९ वर्ष के लगभग थी, झोंपड़े से निकली। सब लोग उसकी ओर देखने लगे। उसका भेष मलिन था। सिर के बाल सब उलझे हुए थे। मुख पर उदासीनता थी। उसने द्वार पर बँधी हुई दो भैंसों तथा एक गाय को खोला और एक लकड़ी हाथ में लेकर उन्हें हाँकती हुई जंगल की ओर ले गई। वहाँ पहुँचकर उसने गाय-भैंसों को चरने के लिए छोड़ दिया और स्वयं धूप में एक पत्थर के ऊपर बैठ गई। थोड़ी देर तक बैठी रही, फिर लेट गई। लेटने के कुछ

समय उपरांत उसने उँगली से भूमि पर स्पष्ट अक्षरों में "राधाकांत" लिखा। लिखकर उसे बड़ी देर तक ध्यान-पूर्वक देखती रही। इसके पश्चात् कुछ मुसकराई। फिर एकदम-से उदास हो गई। एक दीर्घ निःश्वास ली और नेत्रों में आँसू भर लाई।

उसी समय एक बालक ने उसके पास आ कर कहा—"पगली, आ गई?"

यह सुनते ही पगली ने झट-पट—"राधाकांत" शब्द हाथ से बिगाड़ डाला और मुँह बना कर वहाँ से उठी। फिर उस स्थान से दूर जा कर बैठी और उँगली से भूमि पर कुछ लिखने लगी।

राय कृष्णदास

राय कृष्णदास का जन्म सम्वत् १९४९ वि० में हुआ। ये काशी के प्रतिष्ठित रईस हैं और ललितकलाओं के बड़े प्रेमी हैं।

मानव-हृदय में परोक्ष सत्ता की जो भावात्मक अनुभूति होती है, उसकी व्यंजना इनकी रचनाओं—कविताओं, गद्य-काव्य तथा कहानियों—में बड़ी ही मार्मिक प्रणालियों से की गई है। अनुभूति के भावात्मक होने के कारण अपनी रचनाओं में कल्पनाओं का इन्होंने विशेष आधार रक्खा है। भावनाओं की गंभीरता के साथ-साथ इनकी भाषा में बड़ा संयम पाया जाता है। इतनी व्यावहारिक और नित्य की चलती-फिरती सीधी-सादी भाषा का ऐसा उपयोग किया गया है कि भाव-व्यंजना में बड़ी ही स्पष्टता आ गई है। स्थान-स्थान पर इन्होंने अलंकार की शैली का भी मनोहर उपयोग किया है।

इनके साधना, प्रवाल आदि गद्य-काव्य और भावुक तथा सुधांशु नामक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

माँ की आत्मा

हे भगवान्, माँ की आत्मा में तूने कहाँ की ममता भर दी है। निःस्वार्थ प्रेम, सच्चा स्नेह, अकृत्रिम प्रणय देखना है, तो माँ के हृदय को देखो। यदि आत्मोत्सर्ग का अभ्यास करना हो, तो माता से सीखो। यदि करुणा का तत्त्व जानना हो, तो माता के अन्तःकरण का अध्ययन करो। यदि परम पवित्र तीर्थ में स्नान करना हो, तो माँ के आँसुओं से भीगो। यदि इस पापपूर्ण संसार में देव-सेवा करके निष्पाप होना है तो निरन्तर मातृचरण की धूल में लोटो।

"हे राम" ये शब्द केवल मुँह से नहीं निकले थे। इनमें एक व्यथित हृदय की समस्त व्यथा भरी हुई थी। ज्वालामुखी से जो लपटें निकलती हैं उन्हें कहीं साधारण दीपशिखा न समझ लेना। किस अनंत अग्नि को वे बाहर निकालने का उद्योग करती हैं, इस का अनुमान कर लेना कोई साधारण काम नहीं। राम तुम्हारे सिवा दुःख में प्राणी किसे पुकार सकता है ? हे दीन-दुखियों के एकमात्र आधार, इस स्वार्थमय, जघन्य संसार में उन्हें और कौन आश्रयदाता है ?

लंबी साँस के साथ "हे राम" कहती हुई, सेवती ने चूड़ी पीसनी शुरू की। छोटा सा घर है। कच्चा है। उसमें केवल दो कोठरियाँ, एक दालान और एक छोटा सा आँगन है। आज, माघ के महीने में उसे खड़ा देख कर यही आश्चर्य होता है कि वह पिछली बरसात में टिक कैसे गया !

एक कोठरी में दो खाटें पड़ी हैं। खाटें क्या, झिलंगे हैं। उन पर फटी-पुरानी, मैली-कुचैली, कथरी-गुदड़ियाँ धरी हैं। दूसरी कोठरी में एक फटी चटाई, दो फटे बोरे पड़े हैं। वे इस योग्य हैं कि यदि भारत की आर्थिक दशा दिखाने के लिए कोई प्रदर्शिनी की जाय, तो उसमें उन्हें सर्वोच्च पुरस्कार (Grand Prix) मिले। एक कोने में

दो तीन छोटे-बड़े घड़े और झज्झर पड़े हैं। चुहिया बार-बार आती है और कूद कर उनके गले पर जाकर, उनके भीतर झाँक कर फिर अपने बिल को लौट जाती है। शायद किसी ज़माने में उनमें सौदा-सामान रक्खा जाता रहा होगा। एक ओर एक डोरी पर कई फटे पुराने कपड़े टँगे हैं। बस, इतनी गृहस्थी के बूते पर इस घर के लोग 'गृहस्थ' कहे जाते हैं।

नहीं-नहीं मैं एक बात तो भूल ही गया। दालान में एक चूल्हा भी है। देखने से जान पड़ता है, वह कई दिनों से नहीं जला। ठीक उसके ऊपर खूटियों में दो काली काली हाँडियाँ टँगी हैं।

पाठक, यह घर है किसका? पंडित रामदहिन दुबे का। दुबे जी अब इस संसार में नहीं, उन्हें मरे तीन वर्ष हो चुके। अब उनकी विधवा सेवती और सात बरस का लड़का रामसूरत उनकी स्मृति बनाए हुए हैं।

दुबे जी एक लोअर प्राइमरी स्कूल में अध्यापक थे। उन्हें ८) मिलते थे, उसी में वे सुखं-दुःखम् घर चलाते थे। उनके मरने पर घरवालों का कोई आश्रय न रह गया।

स्त्री बेचारी न पढ़ी-लिखी थी, न कोई कला-कौशल ही जानती थी। घर का खर्च चलता तो कैसे? हाँ उसके घर पर कई गहने अवश्य थे। वे एक एक करके आधे

दामों पर बिक गये। तब भूखों मरने की नौबत आई। पर माँ की आत्मा भला लड़के को दुखी देख सकती है? सेवती ने ५०) पर मकान बंधक रख कर साल-भर किसी प्रकार उसका पेट भरा। इधर महाजन ने तकाज़ा शुरू किया। पहले तो वह महीनों तक टालती रही। जब कोई उपाय न देख पड़ा तब उसने साफ कह दिया कि भाई रुपये मेरे दिये न दिये जायँगे, तुम्हारे जो मन आवे, करो। बस इसी की तो प्रतीक्षा थी। महाजन को शील कहाँ! भला महाजनी और शील कहीं एक साथ रहे हैं!! राम कहिये!!! उसने चट नालिश करके ५६) पर मकान नीलाम करा लिया। ३७) की डिगरी घाते में बनी रही।

आज तीन दिन हुए, उसने सेवती को ज़बानी नोटिस दे दिया कि माघी पूर्णिमा से या तो किराया दिया करो या मकान खाली कर दो। अब तक मैंने बहुत नुक-सान उठाया अब नहीं सह सकता।

गाँववाले उसकी इस दयालुता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। दूसरा नीलामदार होता, तो उसने तुरंत कब्जा ले लिया होता। प्रशंसा न करते, तो जाते कहाँ? सारे गाँव का साहूकार तो वही था।

रामसूरत को इन सब बातों की कोई चिंता नहीं। चिंता कैसे हो? एक तो उसकी उम्र नहीं दूसरे सिर पर

माता का छत्र है। वह अपने खेलने-कूदने में मस्त रहता है। जिस दिन मकान नीलाम हो रहा था, वह और लड़कों के संग खड़ा-खड़ा तमाशा देख रहा था।

जब एक, दो, तीन होकर आखिरी बोली बोली गई थी, तब वह आनन्द की किलकारी मारता हुआ उछलने लगा था। बेचारी माता भीतर बैठी-बैठी रक्त के आँसू रो रही थी, और 'उत्तर-राम-चरित' के राम की भाँति पुटपाक में पक रही थी। उसको सब से भारी चिन्ता रामसूरत के भविष्य की थी।

रामसूरत, जाने आज के बाद तेरे भाग्य में वे आनन्द की किलकारियाँ हैं या नहीं।

सेवती में कोई विद्या तो न थी, पर बाहुबल था। उसने घर-घर यह प्रस्ताव किया कि या तो मुझ से आटा पिसवाया करो, पानी भरवाया करो या और जो मेहनत-मजदूरी चाहो, करा लो। पर इस पर कोई कैसे सम्मत होता? भला, हिन्दू-समाज पंडितानी से कहीं चाकरी करा सकता है? ऐसा हो तो वह आज ही रसातल को न चला जाय? अन्ततोगत्वा उसे चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार सूझने लगा। किस के लिए? कुछ अपने लिए नहीं, अपने एकमात्र प्राण रामसूरत—लल्लू—के लिए। जिस प्रकार कछुई पानी में बैठी-बैठी, बालू में गड़े अपने

अंडों की मंगल-कामना किया करती है, उसी भाँति लल्लू चाहे जहाँ रहे, सेवती का जी उसी में लगा रहता, उसी की शुभ-कामना किया करता।

आज लल्लू के संध्या को खाने के लिए घर में कुछ भी नहीं। सत्तू की अन्तिम मुट्ठी खाकर वह खेलने गया है। आज ही क्या, आज से आगे सेवती के किये कुछ नहीं हो सकता। यों होने को तो एक उपाय है। पर क्या वह उसके लिए तैयार होगी? कदापि नहीं। इसी से उस ने चूड़ी खा कर प्राण देना निश्चित किया है।

लल्लू का कष्ट क्या वह अपनी आँखों देख सकती है? कभी नहीं। क्या वह लल्लू से अपने मुँह से कह सकती है—"बेटा, तुम्हारे खाने के लिए कुछ नहीं है।" कभी नहीं, कभी नहीं—ऐसा अवसर आने के पहले ही वह खुशी-खुशी प्राण देकर अपना जी ठंढा करेगी।

सेवती, सेवती, तुम यह क्या अनर्थ कर रही हो? सोचो तो, तुम कैसे भयंकर पाप-गर्त में कूद रही हो! अब भी समय है। चेत जाओ—'जीवन्नरोभद्रशतानि पश्येत्।' पर नहीं, मैं भूल रहा हूँ, वे भारत के स्वर्णमय दिनों की बातें थीं। अब तो इस अभागे देश में दुःख के सिवाय सुख कहाँ! सेवती, तुम मरो, अवश्य मरो, इसी में तुम्हें चिरशांति मिलेगी। हतभाग्य भारतवासियो, प्राण देने ही में तुम्हारे लिए जीवन है।

चूड़ी पिस गई। सेवती ने उसे जिस धीरज के साथ फाँक कर पानी पिया, उस धीरज के साथ शायद ही किसी योगी ने आज तक ब्रह्माण्ड द्वारा प्राण-वायु विमोचन के लिए समाधि लगाई हो। परन्तु इसके बाद वह अपने को न सँभाल सकी—"हाय लल्लू, अब तेरा क्या होगा! क्या तू सचमुच ही सपना हो जायगा!" कह कर रोते-रोते वह धड़ाम से आँगन में गिर पड़ी। पर शीघ्र ही सँभल कर रोती-रोती अपनी टूटी खाट पर जा कर मुँह ढक के पड़ी रही।

सोओ सेवती, तुम शांतिपूर्वक महानिद्रा में सोओ, अब लल्लू की चिन्ता का समय नहीं। उसके सिर पर भगवान् हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री

शास्त्री जी का जन्म सम्वत् १९४८ विक्रमी में हुआ। ये दिल्ली के प्रसिद्ध वैद्य हैं और संजीवन फार्मेसी के संचालक हैं।

इन की लेखन-शैली अपने ही ढंग की है। हृदयस्थ भावनाओं की उथल-पुथल का मनोरम चित्र खींचने में ये सिद्धहस्त हैं। इनकी रचनाओं को पढ़ने से यह स्पष्ट मालूम होजाता है कि लेखक अपनी व्यथाओं की "राम कहानी" इस तरह कह रहा है कि पाठक सुन कर तड़पें, रोएँ, गाएँ, और हँसें।

इनकी भाषा में हिन्दी-उर्दू का विचित्र मिश्रण रहता है जिसे पढ़ते ही बनता है। चलती, सरल तथा बोधगम्य भाषा में ये भावों की विचित्र रूप से लड़ी पिरोते हैं। इनका प्रत्येक वाक्य एक दूसरे से इस प्रकार सटा-सा रहता है कि किसी एक को पृथक् करने से भाव-शृंखला छिन्न-भिन्न हो जाती है। हिन्दी में गद्य-काव्य लिखने की प्रणाली सब से पहले इन्होंने ही चलाई।

इनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। जिन में प्रमुख ये हैं—

हृदय की परख, हृदय की प्यास, अन्तस्तल, चनाम-स्वदेश।

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी"

१

गर्मी के दिन थे। बादशाह ने उसी फागुन में सलीमा से नई शादी की थी। सल्तनत के सब झंझटों से दूर रहकर नई दुलहिन के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने वह सलीमा को लेकर काश्मीर के दौलतखाने में चले आये थे।

रात दूध में नहा रही थी। दूर के पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ़ से सफ़ेद होकर चाँदनी में बहार दिखा रही थीं। आरामबाग के महलों के नीचे पहाड़ी नदी, बल खाकर बह रही थी।

मोतीमहल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौंदर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फ़ीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुँथी हुई उस फ़ीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमखाब की कुरती और पन्नों की कमरपेटी पर, अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमरमर के समान पैरों में जरी के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।

कमरे में एक क़ीमती ईरानी कालीन का फ़र्श बिछा हुआ था, जो पैर रखते ही हाथ भर नीचे धँस जाता था। सुगन्धित मसालों से बने हुए शमादान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे क़द के आईने लगे थे। संगमरमर के आधारों पर, सोने-चाँदी के फूलदानों में, ताज़े फूलों के गुलदस्ते रक्खे थे। दीवारों और दरवाज़ों पर चतुराई से गूथी हुई नागकेसर और चंपे की मालायें झूल रही थीं, जिनकी सुगन्ध से कमरा महक रहा था। कमरे में अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की देश-विदेश की वस्तुएँ क़रीने से सजी हुई थीं।

बादशाह दो दिन से शिकार को गए थे। आज इतनी रात गई, अभी तक नहीं आए। सलीमा चाँदनी में दूर तक आँख बिछाये सवारों की गर्द देखती रही। आखिर उससे स्थिर न रहा गया। वह खिड़की से उठ कर, अनमनी-सी होकर मसनद पर आ बैठी। उम्र और चिन्ता की गर्मी जब उससे सहन न हुई, तब उसने अपनी चिकन की ओढ़नी भी उतार फेंकी और आप-ही-आप झुँझलाकर बोली—"कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब क्या करूँ ?" इसके बाद उसने पास रक्खी बीन उठा ली। दो-चार उँगली चलाईं; मगर स्वर न मिला ! उस ने भुनभुना कर कहा—"मर्दों की तरह यह भी मेरे वश में नहीं है।" सलीमा ने उकता कर उसे रखकर दस्तक दी। एक बाँदी दस्तबस्ता हाज़िर हुई।

बाँदी अत्यन्त सुन्दरी और कमसिन थी। उसके सौन्दर्य में एक गहरे विषाद की रेखा और नेत्रों में नैराश्य की स्याही थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा—"साक़ी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बाँसुरी ?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"हुजूर जिसमें खुश हों।"

सलीमा ने कहा—"पर तू किसमें खुश है ?"

बाँदी ने कंपित स्वर में कहा—"सरकार ! बाँदियों की खुशी ही क्या ?"

क्षण भर सलीमा ने बाँदी के मुँह की तरफ देखा—वैसा ही विषाद, निराशा और व्याकुलता का मिश्रण हो रहा था।

सलीमा ने कहा—"मैं क्या तुझे बाँदी की नज़र से देखती हूँ ?"

"नहीं हुज़ूर की तो लौंडी पर ख़ास मेहरबानी है।"

"तब तू इतनी उदास, झिझकी हुई और एकांत में क्यों रहती है ? जब से तू नौकर हुई है, ऐसी ही देखती हूँ ! अपनी तकलीफ़ मुझसे तो कह प्यारी साक़ी !"

इतना कहकर सलीमा ने उसके पास खिसककर उसका हाथ पकड़ लिया।

बाँदी काँप गई; पर बोली नहीं।

सलीमा ने कहा—"क़समिया ! तू अपना दर्द मुझसे कह, तू इतनी उदास क्यों रहती है ?"

बाँदी ने कंपित स्वर से कहा—"हुज़ूर क्यों इतनी उदास रहती हैं ?"

सलीमा ने कहा—"इधर जहाँपनाह कुछ कम आने लगे हैं। इसी से तबीयत ज़रा उदास रहती है !

बाँदी—"सरकार ! प्यारी चीज न मिलने से इंसान को उदासी आ ही जाती है। अमीर और ग़रीब सभी का दिल तो दिल ही है।"

सलीमा हँसी। उसने कहा—"समझी, तब तू किसी को चाहती है ? मुझे उसका नाम बता, मैं उसके साथ तेरी शादी करा दूँगी"।

साक़ी का सिर घूम गया। एकाएक उसने बेगम की आँखों से आँख मिलाकर कहा—"मैं आपको चाहती हूँ !"

सलीमा हँसते-हँसते लोट गई। उस मदमाती हँसी के वेग में उसने बाँदी का कंपन नहीं देखा। बाँदी ने बंशी लेकर कहा—"क्या सुनाऊँ ?"

बेगम ने कहा—"ठहर" कमरा बहुत गर्म मालूम देता है। इसके तमाम दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दे। चिरागों को बुझा दे, चटखती चाँदनी का लुत्फ़ उठाने दे, और वे फूल-मालाएँ मेरे पास रख दे।"

बाँदी उठी। सलीमा बोली—"सुन, पहले एक ग्लास शरबत दे, बहुत प्यासी हूँ।"

बाँदी ने सोने के ग्लास में खुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा। बेगम ने कहा—"उफ् यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमें गुलाब नहीं दिया ?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"दिया तो है सरकार !"

"अच्छा इसमें थोड़ा सा इस्तंबोल और मिला।"

साक़ी गिलास लेकर दूसरे कमरे में चली गई।

इस्तंबोल मिलाया, और भी एक चीज़ मिलाई। फिर वह सुवासित मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही साँस में उसे पीकर बेगम ने कहा—"अच्छा" अब सुना। तूने कहा था कि तू मुझे प्यार करती है; सुना, कोई प्यार का गाना सुना।"

इतना कह और ग्लास को ग़लीचे पर लुढ़काकर मदमाती सलीमा उस कोमल मख़मली मसनद पर खुद भी लुढ़क गई, और रस-भरे नेत्रों से साक़ी की ओर देखने लगी। साक़ी ने वंशी का सुर मिलाकर गाना शुरू किया—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी—"

बहुत देर तक साक़ी की वंशी और कण्ठ-ध्वनि कमरे में घूम घूमकर रोती रही। धीरे-धीरे साक़ी खुद रोने लगी। साकी मदिरा और यौवन के नशे में चूर होकर झूमने लगी।

गीत ख़तम करके साक़ी ने देखा, सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेजी से उसके गाल एकदम सुर्ख हो गए हैं, और तांबूल-राग-रंजित होंठ रह-रहकर फड़क रहे हैं। साँस की सुगन्ध से कमरा महक रहा है। जैसे मंद-पवन से कोमल पत्ती काँपने लगती है, उसी प्रकार सलीमा का वक्षःस्थल धीरे-धीरे काँप रहा है। प्रस्वेद की बूँदें ललाट पर दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में मोतियों की तरह चमक रही हैं।

वंशी रखकर साक़ी क्षण-भर बेगम के पास आकर खड़ी हुई। उसका शरीर काँपा; आँखें जलने लगीं, कंठ सूख गया। वह घुटने के बल बैठकर बहुत धीरे-धीरे अपने आँचल से बेगम के मुख का पसीना पोंछने लगी। इसके बाद उसने झुककर बेगम का मुँह चूम लिया।

फिर ज्यों ही उसने अचानक आँख उठाकर देखा, खुद दीन-दुनियाँ के मालिक शाहजहाँ खड़े उसकी यह करतूत अचरज और क्रोध से देख रहे हैं।

साक़ी को साँप डस गया। वह हत-बुद्धि की तरह बादशाह का मुँह ताकने लगी। बादशाह ने कहा—"तू कौन है ? और यह क्या रही थी ?"

साक़ी चुप खड़ी रही। बादशाह ने कहा—"जवाब दे !"

साक़ी ने धीमे स्वर में कहा—"जहाँपनाह ! कनीज अगर कुछ जबाब न दे, तो ?"

बादशाह सन्नाटे में आ गये। बाँदी की इतनी स्पर्धा !

उन्होंने कहा—"मेरी बात का जवाब नहीं ? अच्छा तुझे नंगी करके कोड़े लगाए जायँगे !"

साक़ी ने अकंपित स्वर में कहा—"मैं मर्द हूँ !"

बादशाह की आँखों में सरसों फूल उठी। उन्होंने अग्निमय नेत्रों से सलीमा की ओर देखा। वह बेसुध

पड़ी सो रही थी। उसी तरह उसका भरा यौवन खुला पड़ा था। उनके मुँह से निकला—"उफ़! फ़ाहशा" और तत्काल उनका हाथ तलवार की मूठ पर गया। फिर उन्होंने कहा—"दोज़ख के कुत्ते। तेरी यह मजाल?"

फिर कठोर स्वर से पुकरा—"मादूम"

क्षण भर में एक भयंकर रूपवाली तातारी औरत बादशाह के सामने अदब से आ खड़ी हुई। बादशाह ने हुक्म दिया—"इस मर्दूद को तहखाने में डाल दे; ताकि विना खाए-पिए मर जाय।"

मादूम ने अपने कर्कश हाथ में युवक का हाथ पकड़ा, और ले चली। थोड़ी देर में दोनों एक लोहे के मज़बूत दरवाज़े के पास आ खड़े हुए। तातारी बाँदी ने चावी निकाल दरवाज़ा खोला, और कैदी को भीतर ढकेल दिया। कोठरी की गच कैदी का बोझ ऊपर पड़ते ही काँपती हुई नीचे को धसकने लगी!

२

प्रभात हुआ। सलीमा की बेहोशी दूर हुई। चौंक कर उठ बैठी। बाल सँवारे, ओढ़नी ठीक की, और चोली के बटन कसने को आईने के सामने जा खड़ी हुई। खिड़कियाँ बंद थीं। सलीमा ने पुकारा—"साक़ी! प्यारी साक़ी! बड़ी गर्मी है, ज़रा खिड़की तो खोल दो।

निगोड़ी नींद ने तो आज ग़ज़ब ढा दिया। शराब कुछ तेज़ थी।"

किसी ने सलीमा की बात न सुनी। सलीमा ने ज़रा ज़ोर से पुकारा—"साक़ी!"

जवाब न पाकर सलीमा हैरान हुई। वह खुद खिड़की खोलने लगी। मगर खिड़कियाँ बाहर से बंद थीं। सलीमा ने विस्मय से मन-ही-मन कहा—"क्या बात है? लौंडियाँ सब क्या हुईं?"

वह द्वार की तरफ चली! देखा, एक तातारी बाँदी नंगी तलवार लिए पहरे पर मुस्तैद खड़ी है। बेगम को देखते ही उसने सिर झुका लिया।

सलीमा ने क्रोध से कहा—"तुम लोग यहाँ क्यों हो?"

"बादशाह के हुक्म से।"

"क्या बादशाह आ गये?"

"जी हाँ।"

"मुझे इत्तिलाह क्यों नहीं की?"

"हुक्म नहीं था।"

"बादशाह कहाँ हैं?"

"ज़ीनतमहल के दौलतख़ाने में।"

सलीमा के मन में अभिमान हुआ। उसने कहा—

"ठीक है, खूबसूरती की हाट में जिनका कारबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे ? तो अब ज़ीनतमहल की किस्मत खुली ?"

तातारी स्त्री चुपचाप खड़ी रही। सलीमा फिर बोली—"मेरी साकी कहाँ है ?"

"कैद में !"

"क्यों ?"

"जहाँपनाह का हुक्म।"

"उसका क़ुसूर क्या था ?"

"मैं अर्ज़ नहीं कर सकती।"

"कैदखाने की चाबी मुझे दे, मैं अभी उसे छुड़ाती हूँ।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं है।"

"तब क्या में भी कैद हूँ ?"

"जी हाँ।"

सलीमा की आँखों में आँसू भर आए। वह लौटकर मसनद पर पड़ गई, और फूट-फूट कर रोने लगी, कुछ ठहर कर उसने एक खत लिखा—

"हुजूर ! मेरा क़ुसूर माफ़ फ़र्मावें। दिन भर की थकी होने से ऐसी बेसुध सो गई कि हुजूर के इस्तक़बाल में हाज़िर न रह सकी। और मेरी उस प्यारी लौंडी की भी

जाँ-बख्शी की जाय। उसने हुजूर के दौलतखाने में लौट आने की इत्तिला वाजिबी तौर पर न देकर बेशक भारी कुसूर किया है; मगर वह नई, कमसिन, ग़रीब और दुखिया है !

कनीज़

"सलीमा"

चिट्ठी बादशाह के पास भेज दी गई। बादशाह की तबीयत बहुत ही नासाज़ थी। तमाम हिन्दुस्तान के बादशाह की औरत फ़ाहशा निकले! बादशाह अपनी आँखों से परपुरुष को उसका मुँह चूमते देख चुके थे ! वह गुस्से से तलमला रहे थे, और ग़म ग़लत करने को अंधाधुंध शराब पी रहे थे। जीनतमहल मौक़ा देखकर सौतिया डाह का बुख़ार निकाल रही थी। तातारी बाँदी को देखकर बादशाह ने आग होकर कहा—"क्या लाई है ?"

बाँदी ने दस्तबस्ता अर्ज़ की—"खुदावंद ! सलीमा बीबी की अर्ज़ी है।"

इतना कहकर उसने सामने ख़त रख दिया।

बादशाह ने गुस्से से होंठ चबाकर कहा—"उससे कह दे कि मर जाय।" इसके बाद ख़त में एक ठोकर मारकर उन्होंने उधर से मुँह फेर लिया।

बाँदी लौट आई। बादशाह का जवाब सुनकर सलीमा

धरती पर बैठ गई। उसने बाँदी को बाहर जाने का हुक्म दिया, और दरवाज़ा बंद करके फूट-फूट कर रोई। घंटों बीत गए, दिन छिपने लगा। सलीमा ने कहा—"हाय! बादशाहों की बेगम होना भी क्या बदनसीबी है! इंतज़ारी करते-करते आँख फूट जायँ, मिन्नतें करते-करते ज़बान घिस जाय, अदब करते-करते जिस्म टुकड़े-टुकड़े हो जाय, फिर भी इतनी-सी बात पर कि मैं ज़रा सो गई, उनके आने पर जाग न सकी, इतनी सज़ा? इतनी बेइज़्ज़ती?

"तब मैं बेगम क्या हुई? ज़ीनत और बाँदियाँ सुनेंगी तो क्या कहेंगी? इस बेइज़्ज़ती के बाद मुँह दिखाने लायक़ कहाँ रही? अब तो मरना ही ठीक है। अफ़सोस! मैं किसी ग़रीब किसान की औरत क्यों न हुई!"

धीरे-धीरे स्त्रीत्व का तेज उसकी आत्मा में उदय हुआ। गर्व और दृढ़ प्रतिज्ञा के चिह्न उसके नेत्रों में छा गए। वह साँपिन की तरह चपेट खाकर उठ खड़ी हुई। उसने एक और ख़त लिखा—

"दुनियाँ के मालिक! आपकी बीबी और कनीज़ होने की वजह से मैं आपके हुक्म को मानकर मरती हूँ। इतनी बेइज़्ज़ती पाकर एक मलका का मरना ही मुनासिब भी है। मगर इतने बड़े बादशाह को औरतों को इस

क़दर नाचीज़ तो न समझना चाहिए कि एक अदना सी बेवकूफ़ी की इतनी बड़ी सज़ा दी जाय। मेरा कुसूर सिर्फ़ इतना ही था कि मैं बेख़बर सो गई थी। ख़ैर, सिर्फ़ एक बार हुज़ूर को देखने की ख़्वाहिश लेकर मरती हूँ। मैं उस पाक परवरदिगार के पास जाकर अर्ज़ करूँगी कि वह मेरे शौहर को सलामत रक्खे।

सलीमा"

ख़त को इत्र से सुवासित करके ताज़े फूलों के एक गुलदस्ते में इस तरह रख दिया कि जिससे किसी की उस पर फ़ौरन ही नज़र पड़ जाय। इसके बाद उसने जवाहरात की पेटी से एक बहुमूल्य अँगूठी, निकाली और कुछ देर तक आँखें गड़ा-गड़ाकर उसे देखती रही। फिर उसे चाट गई।

३

बादशाह शाम की हवाखोरी को नज़र-बाग में टहल रहे थे। दो-तीन ख़ोजे घबराए हुए आए, और चिट्ठी पेश करके अर्ज़ की—"हुज़ूर, ग़ज़ब हो गया! सलीमा बीबी ने ज़हर खा लिया है, और वह मर रही हैं।"

क्षण-भर में बादशाह ने ख़त पढ़ लिया। झपटे हुए सलीमा के महल में पहुँचे। प्यारी दुलहिन सलीमा ज़मीन में पड़ी है। आँखें ललाट पर चढ़ गई हैं। रंग कोयले के

समान हो गया है। बादशाह से रहा न गया। उन्होंने घबराकर कहा—"हकीम, हकीम को बुलाओ!" कई आदमी दौड़े।

बादशाह का शब्द सुन कर सलीमा ने उनकी तरफ देखा, और धीमे स्वर में कहा—"ज़हे क़िस्मत!"

बादशाह ने नज़दीक बैठकर कहा—"सलीमा!" बादशाह की बेगम होकर क्या तुम्हें यही लाज़िम था?

सलीमा ने कष्ट से कहा—"हुज़ूर! मेरा क़ुसूर बहुत मामूली था।"

बादशाह ने कड़े स्वर में कहा—"बदनसीब! शाही ज़नान-ख़ाने में मर्द को भेष बदलकर रखना मामूली क़ुसूर समझती है? कानों पर यक़ीन कभी न करता; मगर आँखों देखी को भी झूठ मान लूँ?"

जैसे हज़ारों बिच्छुओं के एक डंक मारने से आदमी तड़पता है, उसी तरह तड़पकर सलीमा ने कहा—"क्या?"

बादशाह डरकर पीछे हट गए। उन्होंने कहा—"सच कहो, इस वक्त तुम ख़ुदा की राह पर हो, यह जवान कौन था?"

सलीमा ने अकचकाकर पूछा—"कौन जवान?"

बादशाह ने ग़ुस्से से कहा—"जिसे तुमने साक़ी बनाकर पास रक्खा था?"

सलीमा ने घबराकर कहा—"हैं! क्या वह मर्द है?"

बादशाह—"तो क्या तुम सचमुच यह बात नहीं जानतीं ?"

सलीमा के मुँह से निकला—"या खुदा !"

फिर उसके नेत्रों के आँसू बहने लगे। वह सब मामला समझ गई। कुछ देर बाद बोली—"ख़ाविन्द ! तब तो कुछ शिकायत ही नहीं; इस क़ुसूर की तो यही सज़ा मुनासिब थी। मेरी बदगुमानी माफ़ फ़रमाई जाय। मैं अल्लाह के नाम पर पड़ी कहती हूँ, मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं है।"

बादशाह का गला भर आया। उन्होंने कहा—"तो प्यारी सलीमा! तुम बेक़ुसूर ही चलीं?" बादशाह रोने लगे।

सलीमा ने उनका हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रखकर कहा—"मालिक मेरे! जिसकी उम्मीद न थी, मरते वक्त वह मज़ा मिल गया। कहा-सुना माफ़ हो, और एक अर्ज़ लौंडी की मंजूर हो !"

बादशाह ने कहा—"जल्दी कहो सलीमा !"

सलीमा ने साहस से कहा—"उस जवान को माफ़ कर देना।

इसके बाद सलीमा की आँखों से आँसू बह चले, और थोड़ी देर में वह ठंढी हो गई!

बादशाह ने घुटनों के बल बैठकर उसका ललाट चूमा, और फिर बालक की तरह रोने लगे।

४

गजब के अँधेरे और सर्दी में युवक भूखा-प्यासा पड़ा था। एकाएक घोर चीत्कार करके किवाड़ खुले। प्रकाश के साथ ही एक गंभीर शब्द तहखाने में भर गया—"बदनसीब नौजवान! क्या होश-हवास में है?"

युवक ने तीव्र स्वर में पूछा—"कौन?"

जवाब मिला—"बादशाह।"

युवक ने कुछ भी अदब किये बिना कहा—"यह जगह बादशाहों के लायक़ नहीं है—क्यों तशरीफ़ लाए हैं?"

"तुम्हारी कैफ़ियत नहीं सुनी थी, उसे सुनने आया हूँ।"

कुछ देर चुप रहकर युवक ने कहा—"सिर्फ सलीमा को झूठी बदनामी से बचाने के लिए कैफ़ियत देता हूँ" सुनिए—सलीमा जब बच्ची थी, मैं उसके बाप का नौकर था। तभी से मैं उसे प्यार करता था। सलीमा भी प्यार करती थी; पर वह बचपन का प्यार था। उम्र होने पर सलीमा परदे में रहने लगी, और फिर वह शाहंशाह की बेगम हुई। मगर मैं उसे भूल न सका। पाँच साल तक पागल की तरह भटकता रहा। अन्त में भेष बदलकर बाँदी की नौकरी कर ली। सिर्फ़ उसे देखते रहने और खिदमत

करके दिन गुज़ार देने का इरादा था। उस दिन उज्ज्वल चाँदनी, सुगंधित पुष्पराशि, शराब की उत्तेजना और एकान्त ने मुझे बेबस कर दिया। उसके बाद मैंने आँचल से उसके मुख का पसीना पोंछा, और मुँह चूम लिया। मैं इतना ही ख़तावार हूँ। सलीमा इसकी बाबत कुछ नहीं जानती।"

बादशाह कुछ देर चुप-चाप खड़े रहे। इसके बाद वह बिना दरवाज़ा बन्द किये ही धीरे-धीरे चले गये!

५

सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गये। बादशाह सलीमा के कमरे में ही दिन-रात रहते हैं। सामने नदी के उस पार, पेड़ों के झुरमुट में सलीमा की सफ़ेद क़ब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में; उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की क़ब्र दिन रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है, तो उस गंभीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्म-भेदिनी गीत-ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ़-साफ़ सुनते हैं, कोई करुण-कोमल स्वर में गा रहा है—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी?"

श्री सुदर्शन बी० ए०

ये पंजाबी हैं। इनका जन्म सन् १८८६ ई० में सियालकोट में हुआ। इनके पिता पं० गुरांदित्तामल गवर्नमेंट प्रेस में काम करते थे। बाल्यकाल से ही इनको पत्रकार बनने का शौक़ था। सन् १९१२ ई० में इन्होंने कालेज छोड़कर साप्ताहिक उर्दू पत्र "हिन्दोस्तान" लाहौर के सम्पादकीय विभाग में नौकरी कर ली। इसके बाद भी ये कई-एक उर्दू पत्रों के सम्पादकीय विभाग में काम करते रहे। सन् १९२० से ये हिन्दी में लिखने लगे हैं। इससे पूर्व ये उर्दू में ही लिखते थे और उर्दू-क्षेत्र में इनकी अच्छी ख्याति है।

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में इनकी गल्पें प्रकाशित होती रहती हैं। इनकी लगभग १२ पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं।

इनकी भाषा यद्यपि सरल होती है, तथापि प्रान्तीयता के कारण उसमें स्थान-स्थान पर शिथिलता आ जाती है। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में संस्कृत शब्दों का जहाँ-तहाँ भद्दा प्रयोग हुआ है। हिन्दी संसार में इन्होंने कोई नवीनता नहीं पैदा की। इनकी कहानियाँ वर्णनात्मक हैं, परन्तु वर्णन करने में ये ज़रा-ज़रा सी बात का वर्णन करने लग जाते हैं, जिससे प्रायः पाठक का जी ऊब जाता है।

वैरागी

यह वह समय था, जब दक्षिण में वैरागी लछमनदास के डंके बज रहे थे। कुछ वर्ष पहले वे साधारण साधु थे मगर आज उनके सम्मुख किसी को आँख उठाने का भी साहस न था। गोदावरी के तट पर राजसी ठाठ में मस्त रहते थे। रहने को शानदार मकान थे, खाने-पीने को अच्छे से अच्छे भोजन। उनके नाम में जादू था, आँखों में मोहिनी; जिसकी ओर देख लेते, उस पर आतंक छा जाता। किंवदंती भी थी, कि उनके बस में भूत हैं; जो चाहते हैं, करा लेते हैं। वे नादेड़ से दूर जंगल में रहते थे, परन्तु शहर की कौन सी वस्तु थी, जो उनके पास न पहुँचती हो; पलँग, भोजन, सुन्दर वस्त्र, घी, दूध, बादाम, पिस्ता सब कुछ वहीं पहुँच जाता था। नौकर

सेवा में रात दिन उपस्थित रहते थे। स्त्री पुरुष दर्शन को आते, तो चरण-चुंबन करते; मानों वह आदमी न था, कोई देवता था। जंगल में मंगल हो रहा था। लोग समझते थे, कि इन महात्मा की बात टली, और तबाही आई। इधर बात मुँह से निकलती थी, उधर पूरी हो जाती थी। फ़कीर अमीरों पर राज्य कर रहा था, और ऐसे दबदबे से, कि कोई महाराजाधिराज भी क्या करेगा! उसका शासन शरीर पर होता है यहाँ दिलों पर बादशाही थी। राजाओं के मुँह पर लोग तारीफ़ के पुल बाँध देते हैं; कहते हैं, आज्ञा हो तो जूतों के लिए चमड़ा उतार दें। परन्तु पीठ पीछे यह वाक्-श्रद्धा स्थिर नहीं रहती। मगर वैरागी की अनुपस्थिति में भी लोग उनका नाम लेकर डर जाते थे, मानों कि वे अन्तर्यामी हों। उनका विचार था, कि ये सिद्धराज हैं, जब जहाँ चाहें, चले जायँ, इनके लिए कोई बात कठिन नहीं। कोई-कोई कहता, रात में सोते हैं, तो सब अंग जुदा-जुदा हो जाते हैं, यह हमने अपनी आँखों से देखा है। कोई कहता, सन्ध्या समय आसन पर लेटते हैं, मगर रात में किसी ने कभी नहीं देखा, भगवान् जाने कहाँ चले जाते हैं।

कुछ श्रद्धालुओं की यहाँ तक धारणा थी कि इनके पलँग के आस-पास भूत पहरा देते हैं और यदि कोई

दूसरा आदमी उस पर पाँव रख दे, तो उठा कर नीचे पटक देते हैं। इसके सम्बन्ध में कई कहानियाँ भी मशहूर थीं। ये कहानियाँ शायद सोलह आने सच न थीं, पर वैरागी की सत्ता स्वतःप्रमाण थी। वे जब कभी हाथी पर चढ़ कर बाज़ार से निकल जाते, तो लोग हाथ बाँध कर खड़े हो जाते। किसी में दम मारने की मजाल न थी।

उधर पाँच नदियों की वीर-भूमि में घोर दमन की अग्नि प्रचण्ड थी, और सिक्ख सूरमा धर्म पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर रहे थे। वैरागी को कभी-कभी विचार आता, कि मेरी मातृ-भूमि संकट में है, परन्तु फिर सोचते, मुझे क्या ? मैं वैरागी हूँ, मैंने दुनियाँ का त्याग कर दिया। कोई जिए या मरे, मुझे इससे कोई मतलब नहीं।

२

इतने में गुरु गोविन्दसिंह पंजाब से यहाँ पहुँचे। उनके दिल में मातृ-भूमि का हित न रहा था, यह कौन कह सकता है ! आदमी को बचपन में बाप से प्यार होता है, बुढ़ापे में सन्तान से। इनके लिए वह बड़े से बड़ा पाप करने को भी तैयार हो जाता है। मगर गुरु गोविन्दसिंह ने देश और धर्म पर इन दोनों को न्योछावर

कर दिया। मालूम होता है, कि वे पंजाब के बहादुरों स निराश हो गये थे, और देख रहे थे, कि आशा की किरण कहीं और भी दिखाई देती है, या नहीं? इसी धुन ने उन्हें पंजाब से दक्षिण में खींच लिया। यहाँ आए, तो वैरागी की कीर्ति सुनी। उनका हृदय-कमल खिल उठा, सोचने लगे; क्या मेरी मनो-कामना सिद्ध होगी ?

एक दिन इसी चिन्ता में उदास बैठे थे, कि दाऊद-पंथी गुरु नारायणदासजी मिलने आ गये। पंजाब की बातें होने लगीं। गुरु जी के दिल में आग थी, आँखों में पानी, मगर चेहरे पर जरा मैल न थी। वह इस तरह चमक रहा था, जैसे वायु के झोंकों में दीया जल रहा हो। यह तेल का दीया न था, यह घी और कपूर का दीया न था, यह धर्म्म, विश्वास और श्रद्धा का दीया था, जिस पर संकट आक्रमण करते हैं, किन्तु वह उसी तरह जलता रहता है।

महन्त नारायणदास रामेश्वर की यात्रा करके लौटे थे गुरु जी ने पूछा, "इधर क्या-क्या देखा ?"

महन्तजी की आँखें चमकने लगीं, जैसे कोई भूला हुआ मनोहर दृश्य याद आ जाय। बोले—"इस यात्रा में जो वस्तु देखी, वह हृदय-पट पर चित्र के समान अंकित हो गई।"

गुरु जी ने पूछा—"वह क्या ?"

"जी चाहता है, एक बार फिर देखें।"

"मगर वह है क्या ?"

"उसके लिए आँखें तरस रही हैं।"

"ऐसी अद्भुत वस्तु है ?"

"मरते दम तक न भूलूँगा।"

"तो हमें भी देखनी चाहिए।"

"जिसने इधर आकर उसे न देखा उसने कुछ न देखा।"

गुरुजी ने अधीर होकर पूछा—"तो बताते क्यों नहीं, वह वस्तु है क्या ?"

महन्तजी ने उत्तर दिया—"गोदावरी के तट पर एक वैरागी रहता है। वह अद्वितीय व्यक्ति है। जिन्न और भूत उसके वश में हैं, जो चाहता है कर दिखाता है। उस के चमत्कार देख कर हम तो दंग रह गए।"

गुरुजी जमीन से उछल पड़े। इस समय उनके मन की जो दशा थी उसका वर्णन करना असंभव है। उन को ऐसा मालूम होने लगा मानों आशा की भूमि बहुत पास आ गई है—सामने दिखाई देने लगी है। वे बैठे थे, खड़े हो गये, और टहलने लगे। इसी तरह कुछ देर टहलते रहे। तब वे टहलते-टहलते रुक गये, और अपने दोनों हाथों की मुट्ठियाँ कसकर बोले:—"हम उनसे मिलेंगे।"

३

प्रातःकाल था। सूरज की किरणें गोदावरी की स्वच्छ लहरों पर नाच रहीं थीं, मगर पानी पर पड़ती न थीं, जैसे नव-युवती नर्त्तकी के पाँव पृथिवी पर नहीं पड़ते। प्रकृति के भावमय सौंदर्य का मन को मोह लेने वाला यह दृश्य सोती हुई आत्माओं को जगाने की शक्ति अपने अन्दर रखता है। मगर इसकी तरफ किसी का ख्याल न था। वैरागी के आश्रम में मौनपूर्ण शीघ्रता के साथ खाने-पीने का सामान तैयार हो रहा था। कहीं मैदा मला जा रहा था, कहीं आग सुलग रही थी, कहीं बादाम टूट रहे थे, कहीं तरकारियाँ कट रहीं थीं। ऐसा मालूम होता था, किसी राजा की छावनी है। मगर वैरागी अपने आश्रम में न थे, वे नदी के किनारे राम नाम की माला जप रहे थे; किन्तु लोग मुँह खोलते हुए भी डरते थे मानों वे उनके सिर पर खड़े हों। दीया एक जगह रहता है, परन्तु उसके प्रकाश को चारों ओर जाने से कौन रोक सकता है?

ऐसे समय में गुरु गोविन्दसिंह वैरागी के आश्रम में आए और उनके पलँग पर बैठ गए। चारों तरफ़ शोर मच गया। लोग कहते थे यह आदमी ज़रूर जादूगर है अन्यथा इस निर्भयता से पलँग पर न बैठ जाता। नौकर सिर छिपाते फिरते थे। किसी को सामने आने की हिम्मत न

थी। समझते, बोले, और इसने सिर काट लिया। इससे पहले एक जादूगर देखा था, आज यह दूसरा आया है। यह जादूगर पहले से भी जबरदस्त मालूम होता था। लोग थर-थर काँपने लगे।

एकाएक वैरागी लछमनदास ने अपने आश्रम में पाँव रक्खा। उनके आदमियों का डर जाता रहा। अब उनको किसका डर था, उनका वैरागी उनके पास था। वैरागी ने गुरु गोविन्दसिंह को अपने पलँग पर बैठे देखा तो उनकी आँखों में लहू उतर आया; होंठ काट कर बोले—"यह पलँग मेरा है।"

गुरुजी सँभल कर बैठ गए। समझे जिस समय की बाट जोहते थे वह आ गया। बोले—"मैंने कब कहा है कि यह मेरा है।"

वैरागी—"किन्तु इस पर सिवाय वैरागी के और कोई नहीं बैठ सकता?"

गुरुजी—"हम भी वैरागी हैं।"

वैरागी—"नहीं, तुम वैरागी नहीं हो।"

गुरुजी—"हम वैरागी हैं, हमने देश का वैराग्य लिया है।"

गुरुजी ने यह बात इस तरह मुसकराकर कही कि वैरागी का दिल दहल गया। उन्हें आज तक ऐसे धीर

वीर महापुरुष को देखने का अवसर न मिला था। वे आज्ञा देते थे, और लोग उनकी आज्ञा का पालन करते थे। सोचने लगे, यह कौन है, जो ऐसा निर्भय है। धीरे से बोले:—"तुम कौन हो ?"

गुरुजी ने वैरागी की चमकदार आँखों से अपनी आँखे मिलाई और उत्तर दिया—"मेरा नाम गोविन्द-सिंह है।"

वैरागी—"पंजाब से आ रहे हो क्या ?"

गुरुजी—"जी हाँ मैं पंजाबी हूँ।"

वैरागी ने उनकी ओर श्रद्धापूर्ण आँखों से देखा, और दूसरे क्षण आगे बढ़ कर उनके पाँव पर गिर पड़े। गुरुजी ने कहा—"यह आप क्या करते हैं ? आप वैरागी हैं।"

वैरागी—"आप मुझसे बढ़कर हैं। आपने जन्म-भूमि का वैराग्य लिया है। आपने संकट झेले हैं, आप ने दुःख सहे हैं, आपने अपनी सन्तान को अपनी आँखों के सामने कटते देखा है। यह बात साधारण नहीं। निश्चय ही आप महात्मा हैं।"

गुरुजी ने वैरागी को उठाकर गले लगा लिया और बातें करने लगे। यह दो शूरवीरों का मिलन था; किसी ने ऐसा मनोहर दृश्य कम देखा होगा। वे एक दूसरे को

जानते न थे, परन्तु उनके दिलों में जो भाव भरे थे, उन्होंने उनके मन मिला दिए। गुरु साहब बलिदान कर चुके थे, वैरागी के बलिदान का समय आने वाला था। एक बादशाह था, पर फ़कीर बना हुआ। दूसरा फ़कीर था, पर बादशाहों पर शासन करने वाला। उनकी इस मुलाकात ने हिन्दू प्रजा के सोए हुए नसीब जगा दिए।

गुरु साहब ने कहा—"महाराज ! इस समय इस वैराग्य को छोड़ दीजिए। हिन्दू प्रजा पर ऐसे अत्याचार हो रहे हैं, कि देख कर कलेजा काँपता है। बादशाह जो चाहता है, करता है। उसको रोकने का किसी में साहस नहीं है। वह नेक मुसलमानों की भी नहीं सुनता। और फिर अंधेर यह है कि हिन्दू धर्म पर आक्षेप हो रहे हैं। आप इस वैराग्य को छोड़ कर देखिए, तो हर हिन्दू के घर से धुआँ उठता दिखाई देगा। किसी की जान, माल, मान-मर्यादा, धर्म सुरक्षित नहीं है। हिन्दू इस प्रकार सहमे हुए हैं, जैसे बिल्ली को देखकर कबूतर सहम जाता है। बालक डरे हुए हैं, स्त्रियाँ घरों से बाहर नहीं निकलतीं, पुरुषों को अपनी जान के लाले पड़े हुए हैं। सचमुच यह वह युग है, जब योग आदि तो एक ओर रहे स्वर्गपुरी पर भी लात मार देनी चाहिए। यह वीर-परीक्षा का समय है।"

वैरागी ने अपने पंजाब की दीन-दशा गुरुजी की आँखों से देखी, तो उनका कलेजा फटने लगा। इससे पहले उन्हें कभी यह न सूझा हो, यह गलत है। वे बार बार सोचते थे, कि इस समय मेरा भी कुछ कर्त्तव्य है। उन्हें प्राणों की परवा न थी, आगे बढ़ते तो सिर की बाजी लगा देते। मगर वे यह सोचकर चुप रह जाते थे, कि मैं साधु हूँ, यह मेरा काम नहीं, मेरा काम हरि-भजन करना है। परन्तु इस समय सच्चे क्षत्रिय की चार बातों ने उन के दिल की आँखें खोल दीं। उन्होंने लड़ने मरने का निश्चय कर लिया। जिस तरह हताश अर्जुन को श्रीकृष्ण के अमर उपदेश ने बहादुर बना दिया था, उसी तरह गुरुजी की वक्तृता ने वैरागी को सिपाही बना दिया—वे अब वैरागी न रहे थे।

"मैं आपका बंदा हूँ" उस सिपाही ने कहा, जिसने अपने वैराग्य-भाव का अभी-अभी त्याग किया था।

गुरु साहब की आँखें चमकने लगीं। आशा की सुनहली भूमि अब उनके बिलकुल पास आ गई थी। इस समय उनका दिल पानी की लहरों पर नाचने वाली सूरज की किरणों के समान नाच रहा था। आज उन्होंने अपने पीड़ित देशवासियों को एक सच्चा सेवक दिया था। आज उनकी खुशी का ठिकाना न था।

उन्होंने सजल आँखों से वीर वैरागी की ओर देखा और मीठे स्वर में कहा—"अगर मेरे बंदे हो, तो मेरे देश की बंदगी करो। मेरी जन्म-भूमि, मेरी सभ्यता, मेरी संस्कृति मौत के भँवर में हैं उन्हें बचाओ। तुम बहादुर हो, बहादुरी से आगे बढ़ो, और अपने प्राण तक न्योछावर कर दो। मैं तुम से यही चाहता हूँ।

सूरा सोइ सराहिए लड़े धरम के हेत,
पुरजा-पुरजा कटि मरे तऊ न छाँड़े खेत।"

४

१७६४ का साल था, वैरागी महात्मा हिसार पहुँचे और उन्होंने सिक्खों के नाम परवाने जारी कर दिए। उनका नाम उनसे पहले वहाँ पहुँच चुका था, लोग भागते हुए आने लगे। कुछ ही दिनों में एक छोटी सी सेना जमा हो गई। वैरागी के दिल में एक ही ख़याल था। सब से पहले भिवानी का शाही ख़ज़ाना लूटा, और अपने लोगों में बाँट दिया। यह समाचार दिल्ली पहुँचा, तो वहाँ शोर मच गया। हुक्म हुआ जैसे भी हो, वैरागी को गिरफ्तार करो। इनाम मुक़र्रर किए गए, विज्ञापन छापे गए, मगर किसी में आगे बढ़ने की हिम्मत न थी। लोग कहते थे, वैरागी के बस में भूत हैं, आगे वह बढ़े, जिसे जान की ज़रूरत न हो।

जब वैरागी के आने का समाचार मिलता तो घोड़ों पर ज़ीन कसे जाते, हाथियों पर हौदे। कोई दमदमों का प्रबन्ध करता, कोई नकारचियों को बुलाने जाता। सोने की जंजीर के बिना हाथी न चल सकता था, शाही शान में बट्टा लग जाता। और फिर बादशाही झंडा! इसके बिना फ़ौज में बहादुरी न पैदा होती। इस तरह सज-सज़ा कर सेना रवाना होती—मानों किसी अमीर के पुत्र की बारात जा रही है। मगर ये तैयारियाँ सम्पूर्ण होने से पहले ही वैरागी और उनके वीर सिपाही लूट-मार कर भाग जाते। शाही फ़ौज उनकी गर्द तक भी न पहुँच सकती थी।

इस तरह धीरे-धीरे वैरागी ने विराट् सेना जमा कर ली, और पंजाब के शहरों पर कब्जा करने लगे। हिन्दुओं में जान सी पड़ गई। स्त्रियाँ कहती थी, हमारा सहायक आ गया; पुरुष कहते थे, गौ माता की पुकार भगवान ने सुन ली। परन्तु हाकिम यह समाचार सुन कर सहम जाते थे, जैसे कानों के पास से बंदूक की गोली निकल जाय। वे चाहते थे, किसी तरह यह बला टल जाय, मगर यह बला टलती न थी। शासन का विरोध वर्षा ऋतु की नदी के पानी के सदृश बढ़ता जाता था, यहाँ तक कि पंजाब के बहुत से शहरों पर वैरागी का

अधिकार हो गया। जहाँ-जहाँ वैरागी के आदमी पैग़ाम लेकर पहुँचते, किलेदार चाबियाँ हवाले कर देते, किसी में जान ही न थी। वैरागी की वीरता की कहानियाँ सुन कर वह पहले ही घबरा जाते थे। ये कहानियाँ बंदूक की आवाज़ों के समान थीं। इन आवाज़ों में किसी को हानि पहुँचाने की शक्ति हो या न हो, किन्तु इनका प्रभाव गोली से भी अधिक होता है। गोली एक को मारती है; आवाज़ कितने ही लोगों को हिला देती है। वैरागी महात्मा जिधर जाते थे ये कहानियाँ उनसे पहले वहाँ चली जाती थीं। वे शाही-सेना को तो कुछ समझते ही न थे। शाही-सेना को देख कर वे इस तरह हँसते थे, जैसे किसी बालक के सामने खड़े हों। यहाँ तक कि एक बार उन्होंने करनाल को लूट लिया। यह देख कर दिल्लीपति का राज-सिंहासन काँपने लगा। वैरागी को गिरफ्तार करने के कई यत्न किये गये, मगर वे गिरफ्तार न हुए। इधर औरंगजेब की मृत्यु हो गई, और बहादुरशाह तख्त पर बैठा।

औरंगजेब राजनीति की चालें चलता था। बहादुर-शाह चालें न जानता था, और वैरागी और उनके सिपाही अगर गिरफ्तार हो सकते थे, तो चालों से। उन्होंने बहा-दुरशाह को नाकों चने चबवा दिये। बहादुरशाह को सारी उम्र चैन न मिला। उन्होंने अपनी ओर से भरसक यत्न

किया, राज्य की सारी शक्तियों का प्रयोग किया, मगर वैरागी के सामने कोई पेश न गई। यहाँ तक कि उन्हें भी यमदूत का संदेशा आ गया, और दिल्ली के तख्त पर फ़र्रुख़सियर बैठा। यह अपने पूर्वजों से ज्यादा चालाक था, ताड़ गया कि काँटा ताकत से न निकलेगा, इसके लिए नीति की ज़रूरत है। कई महीने सलाह मशविरे होते रहे। परिणाम-स्वरूप वैरागी और सिक्खों में अनबन हो गई।

अब फ़र्रुख़सियर की चाँदी थी, समझा कि मैदान मार लिया।

५

वैरागी लछमनदास कैसे पकड़े गये, यह लंबी कहानी है। केवल इतना कह देना काफ़ी है, कि वह धोखे के शिकार हुए। वे वीर थे, उन्हें मरने का भय न था। वे तलवारों से न डरते थे, न उन्हें जीवन का ऐसा मोह था कि अपमान सह कर भी जीते रहते। वे सच्चे और खरे आदमी थे। वे झूठी सभ्यता न जानते थे, न उन्हें शतरंज की चालें चलना पसंद था। युद्ध में कई अवसर ऐसे भी आ जाते हैं, जब पीछे हटना आगे बढ़ने से अधिक लाभदायक होता है, उस समय शान का ख्याल करने से काम नहीं चलता। बहादुरी काम बिगाड़ देती है। लेकिन संसार ने कई ऐसे अक्खड़ सीधे-सादे सूरमा भी देखे हैं

जो नीति को झूठ का दूसरा नाम समझते हैं, और पीछे हटने की अपेक्षा जान जोखिम में डाल देना पसंद करते हैं। वे मर जाते हैं, परन्तु, आत्मसम्मान को हाथ से नहीं जाने देते।

वीर वैरागी इसी श्रेणी के मनचले, बेपरवाह बहादुरों में से थे। वे यदि चाहते तो गिरफ्तारी से बच सकते थे। यह उनके लिए ज़रा भी कठिन न था। उनके श्रद्धालु-भक्त उनके लिए अपने प्राण देने को हर समय तैयार थे। मगर सच्चे वैरागी को जान बचाने का यह अपमान-पूर्ण मार्ग स्वीकार न था। वे उनके साथ जीने और उनके साथ मरने की प्रतिज्ञा कर चुके थे, अब पीछे कैसे हटते। रोते हुए सिपाही उनके पास गए और बोले—"महाराज हमें अपनी जान प्यारी नहीं, आप की चिन्ता है। यदि आप बचे रहे तो सेना फिर जमा हो जायगी। आपका जीवन देश की सब से मूल्यवान् सम्पत्ति है।"

गुरुदासपुर का किला घिरे कई महीने बीत चुके थे, लोग भूखे मर रहे थे, कुओं का पानी भी समाप्त हो चुका था। शाही सेना खुश थी कि अब शिकार फँसा। ऐसे समय में एक दिन सिपाहियों ने जाकर अपने वीर-नेता से कहा—"अगर आप बचे तो सेना फिर जमा हो जायगी।"

वैरागी ने अपने सिपाहियों के यह वीर-भाव देखे तो उनका दिल खिल गया। कुछ देर बाद आँखें बन्द किये सोचते रहे। इसके बाद बोले—"नहीं अगर मरना है तो साथ-साथ मरेंगे। जाओ, जाकर दरवाज़ा खोल दो।"

आवाज़ में जादू था। सिपाही इनकार न कर सके। किले का दरवाज़ा खुल गया। शाही सेना अन्दर आ गई परन्तु वैरागी के पास जाने का किसी में हौसला न था। जिस तरह बुझी हुई आग के पास जाते हुए भी जानवर डरते हैं। उसकी ज्वाला दिखाई न दे, किन्तु जब तक राख गरम है तब तक उस पर पाँव रखना आसान नहीं।

जब वैरागी ने देख लिया कि अब सम्मान वेचे बिना प्राण नहीं खरीदे जा सकते तब शाही सेना के सिपहसालार के सामने जाकर कहा—"अगर तुम मेरे आदमियों को छोड़ दो तो मैं अपने आप को तुम्हारे हवाले कर देने को तैयार हूँ।"

सिपहसालार ने जवाब दिया—"हम सिर्फ तुम्हारी गिरफ्तारी का हुक्म है। हमें और तुम्हारे आदमियों से कोई मतलब नहीं।"

वैरागी ने शान्ति का साँस लिया, जैसे सिर से बोझ

उतर जाय। देखते-देखते उन्होंने हथियार उतार दिये और कहा—"लीजिए !! पकड़ लीजिए।"

शेर जंजीरों में बँध गया।

६

फ़र्रुख़सियर खुश था। आज उस का सब से बड़ा विरोधी, सब से बलवान दुश्मन पकड़ा गया था। हाकिमों के घरों में शादियाने बजने लगे। चौथे दिन वैरागी और उनके सिपाही दिल्ली में दाख़िल हुए। कभी वह दिन था जब इनका नाम सुनकर बड़े-बड़े बहादुरों के पित्ते पानी हो जाते थे। आज वे कैदी थे। फ़र्रुख़सियर ने अपने सिपहसालार की प्रतिज्ञा का ज़रा भी ख्याल न किया और वैरागी के सिपाहियों को क़तल करने का हुक्म दे दिया। सौ आदमी रोज़ मरने लगे। सात सौ आदमी थे, सात दिन में समाप्त हो गये। अब केवल एक आदमी बाकी था और वह वैरागी था, जिसने अपने देश की ख़ातिर माला छोड़ कर तलवार पकड़ी थी। आज मौत उसे पकड़ने आई थी।

मगर वैरागी महात्मा को चिन्ता न थी, न उनके चेहरे से प्रकट होता था कि उन्हें मृत्यु की सज़ा मिलने वाली है। उनके मुख पर वह निराशा न थी, जो मरने वाले के मुख पर होती है। उनके मुख पर वह उल्लास था

जो जीते हुए सरदार के मुख पर खेलता है। विजय के बाद जब वह शहर में दाखिल होता है तो कैसा खुश होता है, उसकी आँखें कैसी चमकती हैं, होंठ किस तरह मुस-कराते हैं। इस समय वैरागी की भी यही अवस्था थी।

आखिर दिन चढ़ा। वह दिन जिससे भयानक दिन दिल्ली के आसमान ने शायद ही देखा हो। आज वैरागी के क़तल का दिन था। हाकिम समझते थे, अब चैन नसीब होगा, इस आदमी ने तो खाना-पीना हराम कर दिया था। दोपहर को वैरागी को कोतवाली के सामने लाया गया, जहाँ चारों ओर सात सौ शहीदों के कटे हुए सिर टँगे थे। वैरागी का चेहरा उन्हें इस दशा में देखकर थोड़ा सा मलिन हो गया किन्तु उनका तेज फिर भी वैसा ही था। लोगों ने जब यह सुना, कि यही वैरागी हैं, तब उन्हें उन की बहादुरी की कहानियाँ याद आ गईं। वे कई-कई क़दम पीछे हट गये। वैरागी ने उन्हें और जल्लाद को ऐसे देखा, जैसे उनसे कोई सम्बन्ध ही न हो।

इतने में बादशाह की सवारी आई। लोगों ने रास्ता छोड़ दिया। वैरागी ने बादशाह की ओर देखा, और मुसकराया।

बादशाह के शरीर में आग सी लग गई। क्रोध से बोला—"रस्सी जल गई, बल नहीं गया।"

वैरागी—"यह बल तो मौत के बाद भी न जायगा।"

बादशाह—"यह बात है ? मगर तुम जानते हो, कि मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ।"

वैरागी—"खूब जानता हूँ, बालक नहीं हूँ।"

बादशाह—"मगर मेरा ख़याल है, तुम बालक से भी ज्यादा कम-समझ हो।"

वैरागी ने फिर मुसकरा कर बादशाह की ओर देखा, और कहा—"इसी बालक ने तुम्हारी आँखों की नींद छीन ली थी।"

बादशाह अवाक् रह गया। ऐसी निडरता की उसे आशा न थी। थोड़ी देर बाद बोला—"माफी माँग लो, तो हम तुम्हारे छोड़ने के सवाल पर गौर फ़रमा सकते हैं।"

वैरागी—"माफ़ी माँगनी होती, तो तलवार कभी न पकड़ता।"

बादशाह—"तो माफ़ी न माँगोगे ?"

वैरागी ने सिर हिला दिया।

बादशाह—"इसका बेटा कहाँ है ?"

लोगों के दम रुक गए। चारों ओर सन्नाटा छा गया। इतने में जल्लाद ने वैरागी का नन्हा सा अबोध बालक लाकर सामने खड़ा कर दिया। वैरागी की आँखों में पानी आ गया। मगर यह वे नहीं रोते थे, बाप की बावली मुहब्बत रोती थी। पानी की इन बूँदों ने दर्शकों के हृदय में आग लगा दी। सब ओर से सिसकियों

की आवाजें आने लगीं। इन रोने वालों में हिन्दू ही नहीं, मुसलमान भी शामिल थे। दया-भाव को किसी खास जाति की सम्पत्ति किसने बनाया है?

बादशाह ने इशारा किया और जल्लाद ने वैरागी के बेगुनाह बेटे को क़तल कर दिया। वैरागी की ज़बान पर कोई शब्द न था, मगर आँखों में पानी भरा हुआ था।

इसके बाद ज़ुल्म का दूसरा दौर शुरू हुआ। बच्चे का कलेजा निकाला गया और उसे वैरागी के मुँह में दे दिया गया। इससे पहले दर्शक रोते थे, अब चीखें मारने लगे। परन्तु वैरागी अब भी शान्त था।

तब लोहे के गर्म तपते हुए जंबूर से वैरागी की बोटियाँ काटी गईं। लोगों में यह नारकीय दृश्य देखने की शक्ति न थी। वह इधर-उधर चले गए। मगर वह वीरात्मा जिसके साथ यह सब कुछ हो रहा था, उफ़ न करता था।

सहसा वैरागी ने आकाश की तरफ़ देखा, और श्रद्धा-भाव से कहा—"मुझे आपका फ़र्मान याद है:—

सूरा सोई सराहिए लड़े धरम के हेत,
पुरजा-पुरजा कटि मरे तऊ न छाँड़े खेत।"

मरते समय वैरागी के चेहरे पर ऐसी प्रसन्नता थी, जैसी इससे पहले कभी न देखी गई थी।

———

पं० चंडीप्रसाद 'हृदयेश' बी० ए०

हृदयेश का जन्म संवत् १९५६ तथा देहावसान सं० १९८४ में हुआ। ये पीलीभीत के रहने वाले थे। वर्षों तक ये 'चाँद' के सहकारी संपादक रहे।

इनकी कहानियों में कल्पना की पर्याप्त उड़ान तथा भावुकता की विशेष पुट दृष्टिगोचर होती है। भाषा संस्कृत-मिश्रित तथा अनुप्रासमय होती है। वाक्य लंबे-लंबे तथा अलंकार-बहुल होते हैं।

इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं—

मंगल-प्रभात, मनोरमा, वनमाला, और नन्दन-निकुञ्ज।

अश्रु-धारा

१

पितृ-ऋण को चुकाने के लिए सतीश ने अपने सर्वस्व का उत्सर्ग कर दिया। पिता के शुभ्र यश की रक्षा के लिए एवं उनकी आत्मा की शान्ति के लिए, पिता के एकान्त उपासक सतीश ने विशाल ज़मींदारी, सोने-चाँदी के रत्न-जटित पात्र-पुंज, बहुमूल्य शाल और दुशाले एवं प्रियतमा यमुना के मणिमय आभूषण तक प्रसन्न-वदन होकर महा-जनों के हाथों में अर्पण कर दिये। क्षण भर के लिए भी उसके प्रफुल्ल मुख-मण्डल पर चिन्ता की एक रेखा तक प्रगट नहीं हुई; ज्योत्स्नामयी यामिनी के नीरव प्रहर में, निमेष भर के लिए भी उसके प्रशान्त मन-मानस में वेदना की एक क्षुद्र तरङ्ग उत्थित नहीं हुई। पर, जब उस अव-शिष्ट अट्टालिका को भी छोड़ कर जाने के लिए वह विवश

हुआ, तब उसके विशाल लोचनों के प्रान्त-देशों पर; धवल मुक्ताफल के समान, एक-एक अश्रु-बिन्दु आविर्भूत हुआ। पिता का निवास-स्थल होने के कारण वह विशाल प्रासाद पितृ-भक्त सतीश के लिए तीर्थराज प्रयाग से भी अधिक पवित्र, पूज्य एतएव वाञ्छनीय था। वह उसके कैशोर और यौवन के अभिनयों की रङ्गभूमि थी, वह उसके प्रथम प्रणय का स्मृति-मन्दिर था।

पर दूसरे ही क्षण सतीश ने अपने अञ्चल में उन मोतियों को छिपा लिया। प्रियतमा यमुना और दो वर्ष की कादम्बरी को लेकर सतीश उस विशाल भवन से बाहर निकले। दोनों ने—पति और पत्नी ने, उस तीर्थ-तुल्य सदन की देहरी पर मस्तक रख कर स्वर्ग-स्थित पितृ-देवता को उद्देश्य करके प्रणाम किया। दो वर्ष की निर्बोध कादम्बरी ने माता-पिता के इस कृत्य को सरल विस्फारित लोचनों से देखा। दोनों चल दिये—कादम्बरी पिता की गोद में आरूढ़ हुई। उस समय वे दोनों ठीक ऐसे प्रतीत होते थे मानों किसी तीर्थ की यात्रा करके दम्पति लौट रहे हों। उनके मुख पर वैसा ही तेज था; उनकी आँखों में वैसी ही सुषमा थी; उनकी गति में वैसी ही परितृप्ति थी।

उस समय आषाढ़ का प्रथम मेघ रिमझिम बरस रहा था—कादम्बरी को सतीश ने एक फटे हुए कम्बल में

छिपा लिया था। दम्पति का उस दुर्दिन की ओर रत्ती भर ध्यान नहीं था। वे अपनी ही भावनाओं में निमग्न थे।

जीवन के विस्तृत अनन्त-पथ पर जाते हुए दम्पति पर दुर्भाग्य का यह पहला प्रहार था!

२

एक गंदी गली के जीर्ण-शीर्ण गृह में सतीश और यमुना अपनी प्रेमपात्री पुत्री के साथ रहते हैं। उस घर में दरिद्रता का एकान्त आधिपत्य था। बड़े स्नेह और लाड़ की पली कादम्बरी के कोमल शरीर पर भी केवल एक जीर्ण वस्त्र था। यमुना और सतीश का तो कहना ही क्या था? जो वस्त्र पहन कर वे दोनों पितृ-भवन से आए थे, आज तीन महीने से उसी के द्वारा उनके शरीर की लज्जा का निवारण होता था। केवल एक लोटा और तीन चार वर्तन उनकी शेष सम्पत्ति थे।

सतीश ने एक सेठ की दूकान पर १५) महीने की नौकरी कर ली थी। १॥) मकान का किराया था और १३॥) में तीन प्राणियों का भरण-पोषण होता था! जो एक दिन सोने चाँदी के बर्तनों में स्वादिष्ट भोजन खाकर तृप्त होते थे, वे आज टूटी कोर की थाली में घृत-विहीन दाल-चावल खाकर उदर-पूर्ति करते हैं! इसे चाहे विधि की विडम्बना कहिए और चाहे पट का परिवर्तन। पर

इसमें सन्देह नहीं कि, यह दृश्य करुणा-काव्य की मूर्तिमती कल्पना के समान मर्मस्पर्शी प्रतीत होता था। इस करुण-दृश्य में केवल कादम्बरी की सरल-सुन्दर हास्य-रेखा ही स्वर्ग-विभूति के समान कभी-कभी लीला कर उठती थी।

पर, इस दरिद्रता के दारुण दृश्य के वीच में एक जन साक्षात् लक्ष्मी के समान देदीप्यमान था—वह थी सुन्दरी यमुना। वह हिन्दू-नारी थी—सीता के वनवास की कथा का वह वास्तविक रहस्य जानती थी। इसलिए उसने उस घोर दरिद्रता के निकेतन में भी स्वर्ग का सौरभ और प्रकाश भर दिया था। टूटी-फूटी दीवारें पिंड़ोर से पुत कर परिष्कृत हो गई थीं; उस घर का प्रत्येक स्थल राज-प्रासाद के समान सदा साफ़ रहता था; वर्तन चाँदी के समान चमकते थे; फटे जीर्ण वस्त्र प्रायः नित्य ही धोए जाकर साफ़ किए जाते थे। दरिद्रता थी; पर, वहाँ अपवित्रता नहीं थी। दरिद्रता की परिष्कृत कुटी में साक्षात् लक्ष्मी अपने प्राणेश्वर के साथ रहती थी। वह उनकी साधना-कुटीर थी।

सायङ्काल को पति-देव के आते ही यमुना उनकी सेवा में रत हो जाती और जब भोजन से निवृत्त होकर वे दोनों पूर्णिमा की ज्योत्स्नामयी यामिनी में एक दूसरे के साथ

रस-रङ्गमयी वाणी में आलाप करते थे और उस आलाप को जब चञ्चल कादम्बरी अपने सरल हास्य से आलोकित कर देती थी, तब उस समय स्वर्ग के देवता उस दम्पति के सौभाग्य पर इर्ष्या करते थे।

दरिद्रता के मन्दिर में सौभाग्य-लक्ष्मी का उज्ज्वल प्रकाश फैला हुआ था।

३

पर, सतीश के हृदय में पितृ-भवन को छोड़ते जो विषाद-भावना हाहाकार कर उठी थी, उसने सतीश के मन मन्दिर को अपना निकेतन बना लिया। सतीश दरिद्रता के दारुण प्रहार से अशान्त और उद्विग्न हो उठे। सौभाग्य-लक्ष्मी का मृदुल मधुर हास्य भी उनकी उस दारुण चिन्ता को दूर नहीं कर पाया। उनके मुख पर समय-समय पर हँसी का उद्रेक होता अवश्य था; पर, उनके हृदय की प्रवृत्ति-शाला में दुःख-केसरी सदा गर्जन किया करता था। प्रफुल्ल गुलाब में विष-कीट प्रच्छन्न होकर बैठ रहा।

धूसर सन्ध्या की नीरव शान्ति में सामने के विशाल सरोवर के निर्जन तट पर आसीन होकर सतीश विषण्ण भाव से दक्षिण प्रान्तवर्त्ती प्रकाशमान नक्षत्र को देख रहे हैं। जीवन के उस पटपरिवर्त्तन पर वे जितना ही विचार करते हैं, उतना ही उनकी विषादमयी चिन्ता प्रबल वेग से

हाहाकार करती जाती है। पर विचार न करना भी तो असम्भव है?

कौन? सामने यह मूर्तिमती चन्द्रिका के समान कौन रमणी खड़ी है? अहा! कैसा अपरूप-लावण्य है! कैसा विकल कटाक्ष है! कैसा उन्मादकारी सौरभ है!! और उन सब के ऊपर ऐश्वर्य्य का कैसा प्रोज्ज्वल विलास है!!! यह रमणी कौन है? सतीश एकटक उस प्रखर सौन्दर्य को देखने लगे। युवती भी मंत्रमुग्ध सी हो उनकी ओर निहारने लगी।

कुछ क्षणों के अनन्तर युवती ने आगे बढ़कर कोकिल-कंठ से पूछा—"तुम कौन हो युवक?"

सतीश विमुग्ध भाव से देखते रहे—युवती खिल-खिला कर हँस उठी। युवती ने आगे बढ़ कर उनका हाथ पकड़ लिया। सतीश के शरीर में बिजली दौड़ गई। सतीश आत्म-विस्मृति के मधुर लोक में पहुँच गया।

युवती सतीश का हाथ पकड़ कर ले चली। सतीश वश किए हुए जीव की भाँति चल दिया। प्रतिवाद में उसके मुख से एक भी वाक्य नहीं निकला। युवती का परिचय पाने की उसने तनिक भी चेष्टा न की।

क्रमशः अन्धकार प्रगाढ़ हो गया। सतीश नहीं लौटे। यमुना भोजन लिए बैठी रही। कादम्बरी सो गई—

पर, यमुना चौके के बाहर नहीं आई। उस समय भी वह चौके ही में बैठी थी, जब सूर्य्य की प्रथम किरण ने उसके ललाट को इस प्रकार चूमा जैसे पति-गृह से लौटी हुई पुत्री का ललाट पिता चूमता है।

पातिव्रत की साधना का वह एक साकार स्वरूप था।

४

निर्मल नील आकाश में चन्द्रदेव खिलखिला रहे थे। पृथ्वी शान्त प्रकृति की गोद में मानों सो रही थी। सान्ध्य-समय का पक्षियों का कलरव अन्तरिक्ष में लीन हो चुका था। इस निस्तब्ध-नीरवता में केवल दो ही प्राणी दृष्टिगोचर हो रहे थे—सतीश और युवती। दोनों सौन्दर्य-वारुणी पी रहे थे—उन्हें सुध न थी—सतीश अपने-आपको खो बैठा था। युवती ने सतीश का गौरव और विवेक अपहरण कर लिये थे, परन्तु उसे इसकी ख़बर न थी। रात्रि व्यतीत हुई। प्रभात के प्रकाश ने सतीश के विवेक को जगा दिया, गत रात्रि की उसकी मोह-निद्रा भंग हुई, वह चेतन हो उठ बैठा।

दिन के प्रकाश में सतीश ने देखा कि, गत सन्ध्या के धूसर विलास में जो प्रदीप्त सौन्दर्य उसने देखा था, वह एक कपट आवरण था। वास्तव में वह उच्छृङ्खल भोग-प्रकृति का प्रच्छन्न-स्वरूप था। सतीश का हृदय

हाहाकार कर उठा और उस घोर हाहाकार के बीच में देवी शोभा की भाँति निर्विकार भाव से अविर्भूत हुई सुन्दरी यमुना की ललित लावण्यमयी प्रतिमा! सतीश ने भय और ग्लानि से आँख मूँद लीं। पर, वह मूर्ति अंतर्हित नहीं हुई। मानसिक लोचनों के सामने हृदय की निकुञ्ज स्थली में वह खड़ी-खड़ी सतीश के कलङ्क-चिह्नों की ओर अनामिका से निर्देश करने लगी।

सतीश ने विकलभाव से पूछा—"युवती! तुम कौन हो?"

युवती ने निर्लज्ज भाव से उत्तर दिया—"मैं इस नगर की केतकी नाम की विख्यात वारांगना हूँ।"

सतीश काँप उठा। व्याध के पाश से छूट कर, जैसे पशु प्राणपन से पलायन करता है, सतीश भी उसी भाँति वहाँ से भागा।

मनुष्य के अन्तराल में छिपे-छिपे चरने वाले पशुत्व की विश्वासघात-लीला का यह भीषण परिणाम है!

५

सतीश ने घर में प्रवेश करके देखा कि चौके के अन्दर मूर्तिमती साधना के समान यमुना बैठी है—सामने ही कादम्बरी सुख-निद्रा में विश्राम कर रही है।

सुन्दरी यमुना ने मृदु मुसकान के द्वारा पति-देव का

अभिनन्दन किया। पर, पति-परमेश्वर प्रकृति के उस हास्य के प्रत्युत्तर में सदा की भाँति नहीं हँस सके। ग्लानि की तीव्र ज्वाला में हँसी भस्मावशेष हो गई थी—आँखों के अश्रु-बिन्दु भी सूख गए थे। शून्य विषण्ण दृष्टि से सतीश ने यमुना की ओर देखा। उस दृष्टि में असीम यातना, अनन्त विषाद और अपार विक्षोभ भरा हुआ था!

यमुना ने सरस स्वर में कहा—"चलो स्नान कर लो! भोजन तैयार है।"

सतीश ने सोचा था, यमुना रात्रि की अनुपस्थिति के विषय में पूछेगी; पर यमुना ने उस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा—सतीश के हृदय ने इस नैराश्य को भी शल्य की भाँति सहन किया। सतीश ने एक बार फिर शून्य दृष्टि से यमुना की ओर देखा। यमुना ने फिर स्नेह-मधुर कंठ से कहा—"चलिए! स्नान कर लीजिए।"

सतीश ने स्नान किया। यमुना ने आग जलाकर भोजन गर्म किया और बड़े भक्ति-भाव से अपने इष्टदेव का भोग लगाया।

सतीश का भोजन समाप्त भी नहीं होने पाया था कि यमुना ने सतीश के विश्राम करने के लिए शय्या प्रस्तुत कर दी। सतीश विषण्ण भाव से जाकर उस शय्या

पर लेट रहा। यमुना ने पति के प्रसाद को पाकर आचमन किया।

कादम्बरी उठ बैठी थी—जल्दी-जल्दी उसका हाथ मुँह धुलाकर यमुना ने उसे भोजन कराया और आप जाकर पति-पर्य्यङ्क के पास बैठकर धीरे-धीरे पङ्खा झलने लगी। कादम्बरी अपने खिलौनों के साथ आनन्द-लीला करने लगी।

रात की अनियमित उच्छृङ्खलता के चित्र सतीश की आँखों में प्रस्फुट थे; लोचनों की लालिमा के आवरण के पीछे से निकल कर निद्रा-देवी ने सतीश को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। सतीश विस्मृति के मधुर छायामय निकुञ्ज में विश्राम करने लगे।

पर, रात भर के जागरण के उपरान्त भी यमुना की आँखों में नींद का नाम न था। मूर्तिमती परिचर्य्या की भाँति वह पति के पाद-पद्म में बैठी-बैठी उन पर व्यजन डुलाती रही; और एकान्त तन्मयी दृष्टि से पति-परमेश्वर के उस प्रसुप्त सौन्दर्य्य को देखती रही। विकार-शून्य साधना का यही दिव्य दृश्य है।

पतिव्रत सिद्ध-मंत्र है; विश्व का नियन्ता भी इस मन्त्र की शक्ति के सम्मुख नतशिर होकर भक्ति-भाव से अभिवादन करता है।

६

आकाश-मण्डल के तीन अंश को जिस समय भगवान दिवाकर पार कर चुके थे, उस समय सतीश की आँख खुली। सतीश ने देखा कि सुन्दरी यमुना सजीव सेवा की भाँति उसकी परिचर्या में प्रवृत्त है।

सतीश का हृदय अब हाहाकार करने वाले भावों को अपनी सीमा से बाँध कर नहीं रख सका। सहसा सतीश ने यमुना की ओर देखकर कहा—"यमुने! यमुने! जानती हो, मैंने महापाप किया है; प्राण विसर्जन ही मेरे पाप का एकमात्र प्रायश्चित्त है।"

यमुना ने शान्त स्वर में कहा—"नाथ! प्राण-विसर्जन तो पाप का प्रायश्चित नहीं, वरन् पाप का परिपोषक है। ऐसी अमङ्गलमयी बात कह कर आप क्यों मेरे हृदय को विक्षुब्ध कर रहे हैं देव!" सतीश ने उत्तेजित स्वर में कहा—"जानती हो, मैंने क्या किया है? मैंने तुम्हारे साथ घोर विश्वासघात किया है; मैंने धर्म और पुण्य के शिर पर पाद-प्रहार किया है।"

यमुना ने शान्ति-सरस शब्दों में उत्तर दिया—"मैं सब जानती हूँ। मैं जानती हू कि आप ने जो कुछ किया है; वह स्वेच्छा से नहीं, वरन् शैतान के कपट-पाश में फँस कर किया है। नाथ! विश्व में आप ही ने यह पहला

अपराध नहीं किया है; बड़े-बड़े ऋषि और देवता तक इस प्रबल पाप के कारण पतित हो गए हैं।"

सतीश ने विस्मय-विमुग्ध होकर कहा—"तुम यह सब कैसे जानती हो ?"

यमुना ने संयत वाणी में कहा—"मैंने अपनी आँखों से देखा है। मैं जल लेने के लिए सरोवर पर गई थी। सान्ध्य प्रकाश में शैतान ने किस प्रकार आप को मंत्र-मुग्ध किया था, यह मैंने सब देखा था।"

सतीश कुछ क्षण के लिए मौन हो गए—उनकी उस समय वही दशा हो गई,जो उस चोर की,उस समय होती है, जब वह धन-सहित पकड़ लिया जाता है। सतीश ने बड़ी कठिनाई से ये शब्द उच्चारण किये—"तब तुमने मुझे रोका क्यों नहीं ?"

यमुना ने कहा—"रोकने की सुध ही नहीं रही, जब आप चले गये, तब मुझे ज्ञात हुआ कि कैसा दारुण-काण्ड घटित हो गया है। वारांगना जब तक अपने हाव-भाव की लीला करती रही, तब तक तो मैं स्वयं भी विस्मय से विमुग्ध होकर यह अभिनय देखती रही।"

सतीश—"यमुने ! जीवन के धवल-पट में कलंक बिन्दु तो लग ही गया।"

यमुना—"साधना-सलिल से धोने पर वह छूट जायगा। परन्तु·····।"

यमुना ने अबतक हृदय के भावों को जिस प्रकार अपूर्व संयम और धैर्य से रोक रक्खा था, वैसा करना अब उसके लिए असंभव हो गया। वह सिसक-सिसक कर रोने लगी।

सतीश ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया और उनके लोचनों से भी अश्रु-धारा बहने लगी। यमुना ने अपने मुख-मंडल को सतीश के वक्षस्थल पर रख दिया। दोनों के बाँध टूट गए; अश्रुमय होकर भाव-मंडल आँखों से झरने लगा।

सरल निर्बोध कादम्बरी अवाक् होकर माता-पिता के इस अनुरागमय विलाप को देख रही थी। उसके लिए वह एक अभिनय दृश्य था।

जीवन-पट का कलंक-विन्दु विमल अश्रुधारा के शीतल सलिल से प्रक्षालित होकर अन्तर्हित हो गया।

अश्रु-धारा पुण्य के पावन जगत की कलकलवाहिनी मन्दाकिनी है। इसीलिए भक्त इसी के शीतल सलिल से भगवच्चरणारविन्द का प्रक्षालन करता है; प्रेमी इसी के विमल जल से प्रणयिनी की मानसिक प्रतिमा को स्नान कराता है और साधक इसी के निर्मल नीर से अपने प्रवृत्ति-मण्डल को अभिषिक्त करता है।

"पुण्य-प्रान्त-विहारिणी विजयते प्रेमाश्रुधारा सदा।"

श्री गोविन्दवल्लभ पन्त

पन्तजी का जन्म अल्मोड़ा में संवत् १९५६ वि० में हुआ था। इन दिनों ये ए० वी० स्कूल रानीखेत में अध्यापक हैं। ये कवि नाटककार और गल्पलेखक हैं। हिन्दी की प्रायः सभी मासिक पत्रिकाओं में इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

इनकी रचनाओं में छायावाद की झलक रहती है। कल्पना की उड़ान के साथ भाषा सरल, सरस तथा काव्यमयी होती है।

इनकी एक दो रचनाएँ—वरमाला आदि—ही प्रकाशित हुई हैं और वे अपने ढंग की अनूठी है।

जूठा आम

१

माया केवल हँस देती थी। मेरे प्रश्नों का मुझे सदा यही उत्तर मिलता था। जब वह मेरे सामने से चली जाती थी तब मैं उसके हास्य में अपने अर्थ को टटोलता था। भ्रान्त भिखारी भी उस दिन में, जो उसके लिए रात के समान है, क्या इसी तरह अपना पथ खोजता होगा?

मैं एक भग्न कुटीर में रहता था, सामने ही उस की सुविशाल अट्टालिका थी। उस प्रासाद की सर्वोच्च मंज़िल के बरामदे में चिकें पड़ी हुई थीं। शायद माया

अपने दो हाथों से कभी-कभी एकाध तीलियाँ तोड़ दिया करती थी। चिक का एक कोना खुल गया था। उसी कोने से, उसी की लापरवाही से एक दिन मैंने उसे देख लिया। वह एक दिन वहाँ पर फिर आई, मैंने फिर देखा, मैं उसे पहचान गया, वह मुझे पहचान गई।

इसके बाद वह वहाँ नित्य कुछ देर के लिए आती थी, मैं बड़ी देर तक प्रतीक्षा करता था, प्रतीक्षा कभी विफल न गई।

मैंने जितनी मर्तबा उसके स्वर्गीय रूप के दर्शन किए उतनी मर्तबा उस में कुछ-न-कुछ नवीनता जरूर पाई। उसका विश्वविमोहन हास्य मुझे अपने नाम की तरह खूब अच्छी तरह याद है, किन्तु मुझे याद क्या, मालूम भी नहीं उसका कंठ कितना करुण और कोमल था।

मैं उसकी वाणी को सुनने के लिए बड़ा ही उत्सुक था, किन्तु वह पाषाण—नहीं, नहीं, सुवर्ण की प्रतिमा—कभी बोली ही नहीं। मैंने बड़े-बड़े उपाय किए, पर उसके अधरों से मुस्कान निकली, शब्द नहीं निकले; चित्र देखा संगीत नहीं सुना; भाव मिला, अर्थ नहीं पाया; मेरे नेत्र कृतकृत्य हुए, कान अतृप्त ही रहे। कभी कभी मेरे कर्णद्वय मुझ से कानाफूसी कर कहने लगे—"तू बहरा तो नहीं है?"

२

जो भी हो, लोग कहते हैं—जीवन की सब से प्रिय वस्तु, सब से मनोहर घटना अच्छी तरह याद रहती है, पर मुझे वह भयानक सन्ध्या अभी-की-तरह खूब याद है।

आह ! वह ग्रीष्म की संध्या थी, तापतप्त भूमि पर पानी छिड़ककर मैं भोजन बना रहा था। अचानक सूर्योदय हुआ, चिक के पास मुझे माया दिखाई दी। वह आम चूस रही थी। आम मधुर था, उससे हजार गुना माधुर्य माया की मुसकान में था। होठों में ऐसी माधुरी रखकर भी माया न जानें क्यों आम चूस रही थी।

माया ने आम चूस कर कर उसके छिलके दूर फेंक दिये। वह जानती थी, यदि उसके जूठे आम का एक भी छिलका मेरी रसोई में गिर जाय तो वह अपवित्र हो जायगी। मैं समझता था यदि उसका एक भी जूठा छिलका मेरी रसोई में गिर जाय तो वह पवित्र हो जायगी।

माया गुठली चूस रही थी। अचानक ! गुठली उसके मुँह से फिसल गई। माया को एकाएक यह ध्यान हुआ कि वह गुठली मेरी रसोई में गिरेगी। वह उसको सम्हालने को बढ़ी। गुठली गिरी, उसी के साथ माया भी।

माया की असावधानी से गुठली गिरी और विश्व की असावधानी से माया। संसार ! क्या माया अब तेरे किसी काम की न थी। उस कलिका का अभी विकास भी कहाँ हुआ था मूढ़ !

गुठली और माया मेरे समीप कठोर भूमि पर गिर पड़े ! मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा। मैंने देखा, माया मूर्छित हो गई थी।

क्षण भर में ही उसके माता-पिता वहाँ पर दौड़े आये। पंखा करने पर माया ने आँखें खोलीं, सब के प्राण में प्राण आये। माया ने अधर खोले, मुझे जीवन मिला, अधरों में कंपन हुआ, माया ने कहा—"गुठली जूठी नहीं थी।" इसके बाद माया ने होंठ बंद कर लिये, आँखें बंद कर लीं। फिर माया कुछ न बोली, उसके वह स्वर अन्तिम हुए। माया सदा को चली गई।

चारों ओर से "गुठली जूठी नहीं थी" यही प्रतिध्वनित हो रहा था। जड़-जीव एक-एक कर मुझसे कहने लगे—"गुठली जूठी नहीं है।" सारा संसार एक स्वर के कहने लगा—"गुठली जूठी नहीं है।"

माया फिर कहीं नहीं दिखाई दी। बहुत दिन तक उसकी खोज में इधर-उधर पागलों की तरह घूमता रहा, कहीं उसका कोई निशान नहीं मिला।

संसार में जब मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं रहा, तब मैं उसका त्याग कर निर्जन वन में रहने लगा। माया की वह जूठी गुठली मेरी एक मात्र संगिनी थी। मैंने माया के पाने की चेष्टा की, नहीं मिली। शान्ति खोजी, वह भी नहीं मिली।

३

एक दिन श्याम मेघ, आकाश से वारिसिंचन कर रहे थे। मैंने अपना समस्त मोह त्याग कर वह गुठली जमीन में बो दी। कुछ दिन बाद अंकुर निकल आया। मैंने अनवरत परिश्रम कर उस अंकुर की रक्षा की। कुछ दिन में वह अंकुर एक विशाल वृक्ष में परिणत हो गया।

अचानक एक मधु-वसन्त में उसमें बौर निकल आए। उस समय मैंने देखा, मानों माया अपने हास्य को लेकर आगई है। कोकिला उसमें विश्राम कर कूकने लगी, मानों वही माया का स्वर था। प्रत्येक बौर में आम निकल आये, मानों माया कहने लगी "आम जूठा नहीं है।"

उसी वृक्ष के नीचे अब मेरी कुटी है। उस वृक्ष के ऊपर मैंने पक्षियों को घोंसला बनाने, आराम करने की आज्ञा दे रक्खी है। नीचे छाया में मैं प्रत्येक तापतप्त बटोही से कुछ देर आराम करने का अनुरोध करता हूँ।

हर साल आम की फसल में प्रत्येक पथिक को मैं एक-एक आम देता हूँ। जिस समय वे उसे खाते हैं, समझता हूँ आम जूठा नहीं है।

साल में एक बार आम्रमंजरियों की आड़ से झाँक कर माया मुझे दर्शन देती है। उससे कहता हूँ "माया!"

वह लज्जित हो जाती है और पत्तों के घूँघट को अधिक खींच लेती है। मैं कहता हूँ—"क्यों माया, इतनी लज्जा क्यों?"

वह कहती है—"अब मेरा विवाह हो गया।"

श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

उग्रजी का जन्मस्थान ज़िला मिर्ज़ापुर में भागीरथी और जरगो नामक दो नदियों के दोआबे के बीच में सिन्ध्य-पर्वत माला की लड़ियों से सटा चुनार नामक एक छोटा सा ऐतिहासिक कस्बा है। इनका जन्म संवत् १९५८ वि० में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अधकचरी रही। ये एक प्रतिभाशाली लेखक, कवि, कहानी-लेखक और नाटककार हैं।

भाषा पर जो प्रभुत्व और जो धारावाही प्रवाह इनकी रचनाओं में पाया जाता है वह शायद हिन्दी के किसी अन्य लेखक की रचनाओं में नहीं है। ये कठिन से कठिन संस्कृत-मिश्रित तथा चलती-फिरती हिन्दुस्तानी, सब तरह की भाषा का समय-समय पर अवस देख कर प्रयोग करते हैं और भाषा चेरी की तरह इनके विचारों के पीछे दौड़ती है।

इनके भाव बड़े उग्र होते हैं, और शैली सर्वथा उनके अनुकूल। रचनाओं में प्रत्येक वाक्य नपा-तुला होता है। एक वाक्य दूसरे वाक्य पर इस प्रकार आश्रित रहता है कि बीच में एक-दो वाक्य अलग कर देने से सारा क्रम बिगड़ जाता है।

स्थान-स्थानपर पर्याप्त आलंकारिकता रहती है, परन्तु इनके उपमान बड़े ही स्वभाविक होते हैं, जिनको पाठक सुविधा से समझ सकते हैं, और जो उनके मस्तिष्क में स्थायी स्मृति छोड़ जाते हैं।

इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं—

महात्मा ईसा, चन्द हसीनों के ख़ुतूत, बुधुआ की बेटी, चार बेचारे, दोज़ख की आग, निर्लज्जा, दिल्ली का दलाल; चाकलेट आदि।

ये बड़े विनोद-प्रिय, साहित्य-रसिक तथा मस्तजीव हैं।

दोज़ख की आग

मेरी एक बीबी थी। गुलाब की तरह खूबसूरत, मोती की तरह आबदार, 'कोहेनूर' की तरह बेशकीमत, नेकी की तरह नेक, चाँद की तरह सादी, लड़कपन की हँसी की तरह भोली और जान की तरह प्यारी।

मेरा एक बच्चा था। चाँदनी-सा गोरा, नये चाँद-सा प्यारा, युवती के कपोल-सा कोमल, प्रेम-सा सुन्दर, चुम्बन-सा मधुर, आशा-सा आकर्षक और प्रसन्न हँसी-सा सुखद।

मेरी एक माँ थी। मसजिद की तरह बूढ़ी, आम की तरह पकी, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरानपाक की तरह पाक।

मेरी एक दर्ज़ी की दुकान थी। वही मेरी ग़रीबी

के बुढ़ापे की लकड़ी थी, वही मेरे चार आदमियों के परिवार के होटल की मालकिन थी, वही मेरी रोज़ी थी। वही मेरी रोटी थी, वही मेरे उजड़े घर की फूस की टट्टी थी, वही मेरी झोपड़ी का चिराग़ थी। बीबी की हँसी, बच्चे की खुशी, माँ की दोआ, खुदा की याद, सब कुछ वही थी। वही मेरी दुनियाँ थी।

मेरी एक बुरी आदत थी। हाँ हाँ, बुरी आदत थी। अब तो जान गया हूँ, अब तो मान रहा हूँ, अब झूठ क्यों बोलूँ? मेरी एक बुरी आदत थी। मैं खुदा को मानता था। खुदा को इन्सान से बढ़कर जानता था। खुदा के लिए इन्सान की हस्ती तक मिटा देने का समर्थक था।

मेरी एक मित्र-मंडली थी। उसमें एक-से-एक ज़ाहिल और आवारे इन्सान थे। हरेक आदमी क़ुरान का हाफ़िज़ होने का दावेदार था। हरेक आदमी पैग़म्बरी और खुदा का असली जानकार था। हरेक आदमी दुनियाँ की डेढ़ अक़्ल में से, सवा अक़्ल का खुद हक़दार था। हरेक आदमी पहुँचा हुआ था। हरएक आदमी मुसल्लम ईमान था।

मेरी एक बदक़िस्मती थी, उसने मुझे उस दिन जुमा की नमाज़ के बहाने मसजिद में भेज दिया। भेज क्या

दिया घसीट ले गयी। उसी ने नमाज़ के वक्त एक हिन्दू जुलूस को मसजिद के सामने पहुँचाया, उसी ने मुसलमानों को बाजा रोकवाने पर उतारू कराया, उसी ने हिन्दुओं को अपने हक़ के नाम पर अड़ाया, उसी ने दोनों दलों में गुर्रागुर्री कराया—डंडे, तीर, तलवार, बर्छे निकलवाये—और अन्त में उसी ने मुझे, इच्छा के विरुद्ध, मज़हब के नाम पर, मैदान में कुदा दिया। शहीद बना दिया।

मेरी करनी के लिए शैतान के खज़ाने में एक इनाम था। उसका नाम 'दोज़ख की आग' है। इस वक्त मैं उसी आग की खूँख़्वार लपटों से परेशान हूँ। हाय हाय कर रहा हूँ।

२

मरने के बाद मालूम हुआ कि दुनियाँ वाले दूसरी दुनियाँ के बारे में जो कुछ सोचते हैं सब ग़लत, सब फ़िजूल। सब सिर्फ़ ख़याली-पुलाव होता है। वहाँ सुना था, दीन पर मरने वाले को बहिश्त मिलता है, खुदा मिलता है, हूरें मिलती हैं और न जाने क्या-क्या स्वर्ग की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। मगर कहाँ ? मेरी जान भी तो मज़हब के नाम पर ही गयी। मैं भी तो दीन ही के लिए, क़ुर्बान हुआ। फिर ? मुझे वे चीज़ें क्यों न मिलीं ? कुछ नहीं। यह सब नासमझ इन्सानों की हिमाक़त है, जो ज़मीन पर

रह कर, आसमान की बातें सोचा करते हैं। यहाँ देखने से मालूम हुआ कि दुनियाँ की अक़्ल आसमानी चीज़ों के बारे में सोच ही नहीं सकती। यहाँ के आश्चर्य के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि—'जो अक़्ल में न आये उसका ख़याल क्या है ?'

ज़रा और विस्तार से कहता हूँ। लोग कहते हैं पैदा होने और मरने में बड़ी तकलीफ़ होती है। पैदा होने में तकलीफ हुई थी या नहीं, याद नहीं। मगर, मरने में तो वैसी कोई तकलीफ़ नहीं हुई। एक बार दोनों ओर से ललकारी-ललकारा हुआ। दूसरे क्षण डंडे और तलवारें, ईंटें और बर्छे चलने लगे ! संयोग से किसी एक हिन्दू के हाथ की ईंट मेरी खोपड़ी पर सटीक बैठी। सिर घूम गया। आँखों और मुँह से खून की पिचकारी छूटने लगी। मैं बेहोश हो ज़मीन पर ढेर हो गया। इसके बाद एक बार ज़रा-सी आहट मिली। मालूम हुआ कोई मुझे होश में लाने की चेष्टा कर है। पर सब व्यर्थ। वह एक ही प्रहार मेरी ज़िन्दगी का तमाशा ख़तम करने के लिए काफ़ी था।

एकाएक बेहोशी इतनी बढ़ी कि मैं जाग उठा। अनुभव किया कि, दुनियाँ के ऊपर—किसी दूसरे लोक की ओर—उठाया जा रहा हूँ। जिस समय मेरी अनुभव

करने की शक्ति लौटी उस समय मैं दुनियाँ से बहुत ऊपर बहुत दूर था। इन्सान का प्यारा संसार वहाँ से धूल का घरौंदा मालूम पड़ता था; लड़कों का खिलौना-सा दिखाई पड़ता था। वहाँ सब से पहले मेरी यही कोशिश हुई कि एक बार अपनी टूटी-फूटी झोपड़ी को खोजूँ, एक बार बूढ़ी माँ के मुहब्बत भरे चेहरे को तलाशूँ, एक बार प्यारी बीबी के —दुःखों से भरी दुनियाँ को बहिश्त बनानेवाले—छोटेसे खूबसूरत गुलाबी मुँह को ढूँढ़ूँ, एक बार अपने कलेजे-से प्यारे बच्चे की शकल को उस घरौंदे के बाहर खोज निकालूँ। मगर सारी कोशिशें बिलकुल बेकार हुईं। कोई न दिखाई पड़ा, कुछ भी न दिखाई पड़ा। अब दिल तड़पने लगा। ऐसी खूबसूरत, ऐसी ईमानदार, ऐसी भली-मानस और ऐसी दिलदार बीबी को मैंने किस लिए छोड़ा? ख़याली मज़हब के लिए? शायरों के बहिश्त और दोज़ख के लिए? आपस की तक़रार के लिए? इन्सान के पागलपन के लिए? काफ़िरों से बदला लेने—उन्हें तंग करने के लिए? मसजिद की शान के लिए? गाने के लिए? बजाने के लिए? आख़िर यह मैंने किया क्या और क्यों?

देर तक दुनियाँ की ओर देख भी न सका। मेरे पीछे कोई अज्ञात शक्ति अपना काम कर रही थी। मालूम पड़ता है, उसी का इशारा हुआ। बड़े ज़ोरों से—इतने

ज़ोर से कि कान के परदे झन्ना उठे—धड़ाके की आवाज़ हुई। सन्न से किसी ज़ोरावर ताक़त ने मेरी रूह को एक ओर खींचा। उफ़! ऐसा झटका दिया कि मेरा अङ्ग-अङ्ग भुर-कुस हो गया। मैं काँप उठा। दुनियाँ के अभ्यास के मुताबिक मैंने आँखें मीच लीं। इस वक्त मेरे पास दुनियाँ की तरह अंग थे या नहीं, ठीक नहीं कह सकता। देखने की शक्ति थी, मगर; आँखों का पता नहीं था। छूकर दूसरी चीज़ों का अनुभव कर सकता था, मगर अपने ही हाथ खुदा हो रहे थे—दिखाई नहीं पड़ते थे। यही हालत दूसरे अंगों की भी थी।

इस बार आँखें खोलने पर जो देखा—उफ! रूह काँप उठी! होश उड़ गये! चारों ओर घना काला अन्ध-कार! दुनियाँ का पता नहीं, आसमान का कोई चिह्न नहीं, वायु नहीं, जल नहीं, सूर्य नहीं, चन्द्र नहीं, साथी नहीं, मित्र नहीं। कोई अपना नहीं, केवल—और केवल घना काला भय-प्रद अन्धकार! दम घुट रहा था, बदन पसीने में 'शल' था, शरीर की चमड़ी—मालूम पड़ता था—झुलसी जा रही थी, आँखों की ज्योति क्षण-क्षण पर क्षीण हुई जा रही थी। अन्धकार के परदे में भयानक ज्वाला, भयानक ताप, भयानक दोज़ख था!

उफ़! उफ़!! उफ़!!!

३

मैं सिसक-सिसक कर मर रहा था, मैं हिचक-हिचक कर मर रहा था, मैं बिलख-बिलखकर मर रहा था, मैं गल-गल कर मर रहा था, मैं जल-जल कर मर रहा था, मैं मर-मर कर मर रहा था। बयान नहीं कर सकता उस तपिश का, बयान नहीं कर सकता उस रोमाञ्चकारी हृदय की पीड़ा का, बयान नहीं कर सकता उस रूह को हिला देने वाली दोज़ख़ की आग का! ऐसी गर्मी, ऐसी पीड़ा, ऐसी प्रतारणा, ऐसा दाह, ऐसा दोज़ख़, ऐसा रौरव!

उफ़! उफ़!! उफ़!!!

पीड़ाओं से व्यथित होकर मूर्छित हो जाता था। मगर, बेहोशी में भी फ़ुर्सत नहीं। वही सपना, वही आग वही छीछालेदर! स्वप्न में भी मूर्छित होने का भ्रम होता था। इस प्रकार मेरी एक-एक बेहोशी में हज़ार-हज़ार बेहोशियाँ छिपी रहती थीं। एक-एक मृत्यु में हज़ार-हज़ार मृत्यु की पीड़ा होती थी।

उस बार बेहोशी से होश में आने पर देखा, मेरे चारों ओर के अन्धकार में कुछ प्रकाश का उदय हुआ। मन में आशा चमक उठी—"परीक्षा समाप्त हो गई। अब बहिश्त चलना होगा। यही ज्योति खुदा की ज्योति है, इश्क़ का जलवा है।" ध्यान से देखने से पता चला कि वह

ज्योति कवल ज्योति ही नहीं वल्कि ज्योतिर्मयी अक्षर-धारा थी । चमकीले हरूफ़ थे । आँखों पर ज़रा ज़ोर डालकर देखा । लिखा था—

"दोज़ख की आग !"

ज्योंही मैंने उक्त शब्दों को अच्छी तरह देख लिया त्योंही—तुरन्त—अक्षर वदल गये । अव उन प्रकाशपूर्ण अक्षरों का रूप हो गया—

"भयानक—छाया-चित्र-नाटक !"

अरे, अरे ! मैं घवरा गया । यहाँ यह "सिनेमा" कैसा ? अक्षर और शब्द वरावर वदलने लगे—

"नाटककार......अज्ञान ।"

"सूत्रधार.......ईश्वर-कल्पना ।"

मुख्य नायक [हीरो, वहादुर]......चार अली ।"

मेरा नाम ! इस ड्रामा का 'वहादुर' मैं ? मैं अभी यह सोच ही रहा था कि अन्धकार के पर्दे पर के अक्षर लुप्त हो गये । क्षण भर में एक वार फिर मेरी आँखों के सामने वह अँधेरा आ गया, जिसके चरण की धोवन अपने मुँह पर मलकर सावन भादों का अँधेरा अपना रूप चमकाता है । इसके वाद एक चलती-फिरती तस्वीर सी परदे पर आई ।

ओ हो ! मैं फ़ौरन पहचान गया । वही जुमा की

नमाज़ का नज़ारा था। वही मौलवी, वही मुल्ले, वही बूढ़े, वही जवान, वही दीनदार, वही दिल के नाम पर—खुदी के नाम पर—खुदा को बदनाम करने वाले, वही मुसलमानों की तकरार, वही बातों का बतक्कड़, वही तनातनी, वही आकाश में गर्द का छाना, वही आँधी, वही तूफ़ान, वही मैं [यार अली], वही धर्म के पागलों का आग्रह, वही उत्तेजना, वही विक्षुब्ध समुद्र में फाँदना, वही वज्रपात, वही प्रलय !

उफ़ ! उफ़ !! उफ़ !!!

क्षण भर के अन्धकार के बाद दिखाई पड़ा।

दूसरा भाग

"धार्मिक उन्माद का फल"

इसके बाद तस्वीरों का सिलसिला चला। मेरे शहर का विहगावलोकन, चारों ओर हड़ताल, चारों ओर भयानक स्यापा, चारों ओर शोक, घृणा, क्रोध और अपमान की लपटें, अन्न के अभाव में भूखों मरते परिवार, बेटे के दुख में रोती अनेक माताएँ, पति की अकाल-मृत्यु से व्यथित अनेक अबलाएँ, पिता के शोक से सन्तप्त पुत्र और पुत्र के मरण से मृतक पिता—चारों ओर शोक ! चारों ओर हाय, हाय !

दूसरे भाग के अन्त में लिखा था—"जिस स्थान के लोग ईश्वर या खुदा, धर्म या मज़हब, पैग़म्बर या अवतार के नाम पर हत्या, घृणा, रक्तपात, लूट, दाह और पाप का प्रचार करते हैं, उस स्थान पर दोनों जहान के मालिक, सर्वेश्वर, परमेश्वर का कोप वज्र की तरह टूटता है।

"उस स्थान के लोग रोते हैं और सिसकते हैं और क्षमा प्रार्थना करते हैं। मगर ईश्वर उन्हें क्षमा नहीं करता। वे घुल-घुल कर मरते हैं। मरने पर भी उन्हें चैन नहीं लेने दिया जाता। वे दोज़ख की आग में जलाये जाते हैं!"

बुढ़ापा

१

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूल कर हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूट-कर रो रही है। उस "खोने" में दुःख नहीं, सुख था, सुख ही नहीं, स्वर्ग भी था। इस "पाने" में सुख नहीं दुःख है; दुःख ही नहीं नरक भी है! लड़कपन का खोना—वाह! वाह!! बुढ़ापे का पाना—हाय! हाय!!

लड़कपन स्वर्गदुर्लभ सरलता से कहता था—"मैया, मैं तो चन्द खिलौना लैहौं।" जवानी देवदुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी—"दौर में साग़िर रहे गर्दिश में पैमाना रहे।" और, "अंगं गलितं पलितं मुण्डम्" वाला बुढ़ापा, भवसागर के विकट थपेड़ों से व्यग्र होकर, कहता है—"अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल!"

कौन कहता है कि जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, हा हा हा हा है? यह सब सुफ़ेद झूठ है, कोरी कल्पना है, प्रवञ्चना है। मुझ से पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लम्बे-लम्बे दिनों और लम्बी-लम्बी रातोंवाले एक, दो, दस, बीस नहीं—साठ वर्षों से पूछो। मेरे कटु अनुभव से पूछो। मेरी लाग़री से पूछो, दुर्बलता से पूछो। वे तुम्हें, दुनियाँ के बालकों और जवानों को, बतलायेंगे कि जीवन का अर्थ "वाह" नहीं, "आह" है; हँसी नहीं, रोदन है; स्वर्ग नहीं, नरक है!

लड़कपन ने पन्द्रह वर्षों तक घोर तपस्या कर क्या पाया?—जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन। जवानी ने बीस वर्षों तक; कभी धन के पीछे, कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे और कभी मान के पीछे दौड़ लगाकर क्या हासिल किया?—वार्धक्य के लिफ़ाफे में सर्वनाश, पतन! और—और अब यह बुढ़ापा घंटों नाक दबाकर ईश्वर भजन कर, सिद्धियों की साधना में दत्तचित्त होकर, खननननका खजाना इकट्ठा कर, बेटों की "बटालियन और बेटियों की "बेटरी" तैयार कर कौन-सी बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी में कर लेगा?—वही सर्वनाश, वही पतन! मुझ से पूछो, मैं कहता हूँ—और छाती ठोक कर कहता हूँ—जीवन का अर्थ है, "प...त...न!"

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनियाँ भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर शोभित दिन-मणि कैसा प्रसन्न रहता है। सुन्दरी-उषा से होली खेल-खेलकर गङ्गा की बेला को, तरंगों को, मन्दमलयानिल को, नीलाम्बर को, दसों दिशाओं को और भगवती प्राची के अञ्चल को उन्माद से, प्रेम से और गुलाबी रंग से भर देता है। अपने आगे दुनियाँ का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी उसी रंग में रँगकर वही नाच नाचने लगता है। जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता में देखने लगता है। मगर...मगर...?

रोज की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनियाँ भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्छित दिन-मणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ—कम्पित-करों वाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या फल मिलता है? सर्वनाश, पतन! उस पार—क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास—पतित सूर्य की रक्त-चिन्ता जलती है। माथे पर सायंकाल-

रूपी काला चांडाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी बहन पश्चिमा "आग" देती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गम्भीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनन्त ओतप्रोत रहता है!

उस समय देखनेवाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञात होता है, कि जीवन का असली अर्थ, और कुछ नहीं, केवल सर्वनाश है।

२

कोरी बातों में दार्शनिक विचार रखनेवालों की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की। बातों के दायरे से आगे बढ़नेवालों की।

जीवन का अर्थ पतन या सर्वनाश है, यह कह देना सहल है। दो-चार उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि कर देना भी कोई बड़ी बात नहीं। पर, पतन और सर्वनाश को आँखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना केवल दुरूह ही नहीं, असम्भव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था कि कुछ दुष्ट लड़कों की नजर मुझपर पड़ी। उनमें से एक ने कहा—

"हट जाओ, हट जाओ! हनुमानगढ़ी से भाग कर

यह जानवर इस शहर में आया है। क्या अजीब शक्ल पायी है। पूरा किष्किन्धावासी मालूम पड़ता है।"

बस; बात लग गयी। बूढ़ा हो जाने से ही इन्सान बन्दर हो जाता है? इतना अपमान? बूढ़ों की ऐसी अप्रतिष्ठा? झुकी हुई कमर को कुबड़ी के सहारे सीधी कर मैंने उन लड़कों से कहा---

"नालायको! आज कमर झुक गयी है। आज आँखें कम देखने और कान कम सुनने के आदी हो गये हैं। आज, दुनियाँ की तस्वीरें भूले हुए स्वप्न की तरह झिलमिल दिखाई दे रही है। आज विश्व की रागिनी अतीत की प्रतिध्वनि की तरह अस्पष्ट सुनाई पड़ रही है। मगर, हमेशा यही हालत नहीं थी।

"अभी छोकरे हो, लौंडे हो, बच्चे हो, नादान हो, उल्लू हो। तुम क्या जानो कि संसार परिवर्त्तनशील है। तुम क्या जानो कि प्रत्येक बालक अगर जीता रहा तो, जवान होता है और प्रत्येक जवान, अगर जल्द खतम न हो गया तो, एक-न-एक दिन 'हनुमानगढ़ी का जानवर' होता है। लड़कपन और जवानी के हाथों बुढ़ापे पर जैसे अत्याचार होते हैं यदि वैसे ही अत्याचार बुढ़ापा भी उन पर करने लगे, तो ईश्वर की सृष्टि की इति हो जाय। बच्चे जन्मते ही मार डाले जायँ। लड़के होश सँभालते ही

अपना पेट पालने के लिए, घर से बाहर निकाल दिये जायँ। संसार से, दादा के माल पर फ़ातेहा पढ़ने की प्रथा ही उठ जाय।

अब भी सौ में निन्यानवे धनी अपने बूढ़े बापों की कृपा से गद्दीदार बने हुए हैं। अब भी हज़ार में नौ सौ साढ़े निन्यानवे शौकीन जवानों के भड़कीले कपड़ों के दाम, कंघी, शीशा, ओटो, लवेंडर, सोप, पाउडर, पालिश, और शराब की बोतलों के पैसे बूढ़ों की गाढ़ी कमाई की थैली से निकलते हैं। अब भी संसार में दया, प्रेम, करुणा और मनुष्यता की खेती में पानी देने वाला, कमज़ोर हृदय-वाला बुढ़ापा ही है, बेवकूफ लड़कपन नहीं, मतवाली जवानी नहीं...

फिर बूढ़ों का इतना अपमान क्यों ? बुढ़ापे के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यों ?"

मगर, उन लड़कों के कान तक मेरी दोहाई की पहुँच न हो सकी। सब ने, एक स्वर से ताली बजा-बजा कर, मेरी बातों की चिड़ियों को हवा में उड़ा दिया।

लड़के हू-हू हो-हो करते भाग खड़े हुए। मैं मुग्ध की तरह उनके अल्हड़पन और अज्ञान की ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देखता ही रह गया। उस समय एकाएक मुझे उस सुन्दर स्वप्न की याद आई जो मैंने आज से युगों पूर्व

लड़कपन और यौवन के सम्मेलन के समय देखा था। कैसा मधुर था वह स्वप्न !

३

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनियाँ मेरी हालत पर हँसे या जो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो तो सामने आये। मैं खेलूँगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सुफ़ेद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हज़ार-हज़ार रुपये, लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पाँसे फेंकने को तैयार हूँ। सब कुछ देकर जवानी लेने को राज़ी हूँ। कोई हकीम हो तो सामने आये, उसे निहाल कर दूँगा; मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ—जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डाक्टर हो तो आगे बढ़े, मुँह माँगा दूँगा। कह चुका हूँ, निहाल कर दूँगा; मालामाल कर दूँगा।

हर साल वसन्त आता है। बूढ़े से बूढ़ा रसाल माथे

पर मौर धारण कर ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-सम्पन्न शीतल समीर मन्द-गति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर "कुहू, कुहू" करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाब—नवयुवक—उन्माद की सरिता में, सब कुछ भूलकर, विहार करने लगते हैं, खिलखिलाते हैं, धूम-चौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुम्बित होते हैं, सिपटते हैं लिपटते हैं—दुनियाँ के पतन को उत्थान का, और सर्वनाश को मङ्गल का जामा पहनाते हैं। और मैं—टका सा मुँह लिये, कोरी आँखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकर-टुकर देखा करता हूँ।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है ?

हर साल मतवाली वर्षा ऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोटपोट हो जाता है—"काले मेघा पानी दे!" जवानी पगली होकर गाने लगती है—"आई कारी बादरिया ना।" और मेरा बुढ़ापा ? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँस कर खाँसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता। सामने की परोसी हुई

थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नहीं खा सकते! तड़फ-तड़फ कर रह जाते हैं; उफ़!

उस समय मलूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है!

इस नरक से कोई मुझे बाहर कर दे, युवक बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हूँ। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है—हाँ हाँ, करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझ से पूछो, मैं जानता हूँ, मैं भुक्तभोगी हूँ, मुझ पर बीत रही है।

कोई यदु हो तो इस बूढ़े ययाति की सहायता करे मैं मरने के पहले एक बार फिर उन आँखों को; चाहता हूँ जिन्हें बात-बात में उलझने, लगने, चार होने और फँसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है एक बार किसी के प्रेम में फँसकर गाऊँ—

ठाढ़े रहे घनश्याम उतै, इत
मैं पुनि आनि जटा चढ़ि झाँकी
जानति हौ तुम हू ब्रजरीति
न प्रीति रहै कबहूँ पल ढाँकी
"ठाकुर" कैसेहू भूतल नाहि नै
ऐसी अरी वा बिलोकनि बाँकी
भावत ना छिन भौनको बैठिबो,
घूँघट कौन को? लाज कहाँ की?

इच्छा है, एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदय-दान देकर, बैठे बिठाये, दुनियाँ की दृष्टि में व्यर्थ, परन्तु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ा कर, प्रार्थना करूँ—

रोज न आइये जौ मनमोहन,
तौ यह नेक मतौ सुन लीजिये
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन
तुम्हें बिन देखे सु कैसे कै जीजिये
"ठाकुर" लालन प्यारे सुनौ
बिनती इतनी पै अहो चित दीजिये
दूसरे, तीसरे, पाँचवें, सातवें,
आठवें तौ भला आइबो कीजिये

मगर, नहीं। वार्धक्य वह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके। यह मर्ज ही लाइलाज है। यह दर्द सर ऐसा है कि, सर जाए तो जाए, पर दर्द न जाए।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूँ। भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है, ईश्वर भी छुटकारा नहीं दिला सकता। बुढ़ापा वह पतन है जिसका उत्थान केवल एक बार होता है—और वह

होता है—दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अगर दवा है तो एक "जाह्नवीतोयं,"—यदि वैद्य है तो एक—"नारायणो हरि:"।

फिर अब देर काहे की, प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो। अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भवसागर में हाथ मारते-मारते थक गया हूँ। मेरा जीवन-दीपक स्नेह-शून्य है, गुण रहित है, प्रकाशहीन है। इसका शीघ्र नाश करो, पंचतत्व में लय करो।

फिर से, नये सिरे से,निर्माण हो; फिर से,नये सिरे से, सृष्टि हो; फिर से, नये सिरे से,जन्म हो; फिर से, नये सिरे, से, शैशव हो; फिर से, नये सिरे से, यौवन हो; फिर से नये सिरे से,भोग हो;विलास हो;सुख हो;अमोद हो; विनोद हो; कविता हो;प्रेम हो;पागलपन हो;मान में अपमान, और अपमान में मान हो। फिर से, नये सिरे से, यौवन की मतवाली अंगूरी-सुरा ऐसी छने—ऐसी छने कि लोक भूल जाय, परलोक भूल जाय, भय भूल जाय, शोक भूल जाय, वह भूल जाय, हम भूल जायँ, और तुम—ईश्वर—भूल जाओ! तब जीवन का सुख मिले, तब पृथ्वी का स्वर्ग दिखाई पड़े।

फिर अब देर काहे की प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो; जीवन की रस्सी काट डालो!

बाबू शिवपूजनसहाय

बाबूजी बिहार प्रांत के निवासी हैं। बिहारी लेखकों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। पहले आप 'बालक' का सम्पादन बड़ी योग्यता से करते रहे हैं। अब 'गंगा' का सम्पादन करते हैं। इनकी कई पुस्तकें—महिलामहत्व, देहातीदुनिया आदि प्रकाशित हो चुकी हैं।

बाबूजी की रचनाओं की भाषा में विशुद्धता का विचार अधिक पाया जाता है। स्थान-स्थान पर यद्यपि उर्दू शब्दों का भी प्रयोग दिखाई देता है परन्तु प्रान्तीयता की छाप इनकी लेखनशैली को छू नहीं सकी। अतएव इनकी शैली परिष्कृत सतर्क तथा परिमार्जित है। विषयानुकूल भाषा लिखने में ये सिद्धहस्त हैं। भाषा में अनुप्रासों की भरमार रहती है। साथ ही इनकी रचनाओं में संस्कृत की तरह दीर्घ समासान्त पदावली उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ती है तथा कई स्थानों पर गद्य में पद्या-त्मक तुकान्त प्रयोग मिलता है। जैसे—"सतीत्व रक्षा के लिए जटा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई ज़रूर, लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई सो आज तक किसी कवि की कल्पना में नहीं समाई।"

इसी अनुप्रासिकता के फेर में कई स्थानों पर इनके भाव दब से जाते हैं।

मुण्डमाल

आज उदयपुर के चौक में चारों ओर बड़ी चहल-पहल है। नवयुवकों में नवीन उत्साह उमड़ उठा है। मलूम होता है कि किसी ने यहाँ के कुओं में उमंग की भंग घोल दी है। नवयुवकों की मूँछों में ऐंठ भरी हुई है। आँखों में ललाई छा गई है। सब की पगड़ी पर देशानुराग की कलगी लगी हुई है। हर तरफ़ से वीरता की ललकार सुन पड़ती है। बाँके-लड़ाके वीरों के कलेजे रण-भेरी सुन कर चौगुने होते जा रहे हैं। नगाड़ों से तो नाकों में दम हो चला है। उदयपुर की धरती, धौंसे की धुधकार से डगमग कर रही है। रण-रोष से भरे हुए घोड़े डंके की चोट पर उड़ रहे हैं। मतवाले हाथी हर ओर से, काले मेघ की तरह, उमड़े चले आते हैं। घंटों की आवाज़ से

समूचा नगर गूँज रहा है। शस्त्रों की झनकार और शंखों के शब्द से दसों दिशाएँ सरस-शब्द-मयी हो रही हैं। बड़े अभिमान से फहराती हुई, विजय-पताका राजपूतों की कीर्ति-लता-सी लहराती है। स्वच्छ आकाश के दर्पण में अपने मनोहर मुखड़े निहारने वाले महलों की ऊँची-ऊँची अटारियों पर चारों ओर सुन्दरी-सुहागिनियाँ और कुमारी कन्याएँ भर-भर अंचल फूल लिये खड़ी हैं, सूरज की चमकीली किरणों की उज्ज्वल धारा से धोए हुए आकाश में चुभने वाले कलश, महलों के मुँडेरों पर, मुसकरा रहे हैं। वन्दीवृन्द विशद विरुदावली वखानने में व्यस्त हैं।

महाराणा राजसिंह के समर्थ सरदार चूड़ावतजी आज औरंगजेब का दर्प दलन करने और उस के अन्धाधुन्ध अन्धेर का उचित उत्तर देने जाने वाले हैं। यद्यपि उन की अवस्था अभी अठारह वर्षों से अधिक नहीं है; तथापि जङ्गी जोश के मारे वे इतने फूल गये हैं कि कवच में नहीं अँटते। उनके हृदय में सामारिक उत्तेजना की लहर लहरा रही है। घोड़े पर सवार होने के लिए वे ज्यों ही हाथ में लगाम थाम कर उचकना चाहते है, त्यों ही अनायास उनकी दृष्टि सामने वाले महल की झँझरीदार खिड़की पर, जहाँ उनकी नवोढ़ा पत्नी खड़ी है, जा पड़ती है।

हाड़ा-वंश की सुलक्षणा, सुशीला और सुन्दरी सुकुमारी कन्या से आपका व्याह हुए दो-चार दिनों से अधिक नहीं हुआ होगा। अभी नवोढ़ा रानी के हाथ का कंकण हाथ ही की शोभा बढ़ा रहा है। अभी चाँद बादल ही के अन्दर छिपा हुआ था, किन्तु नहीं, आज तो उदयपुर की उदित-विदित शोभा देखने के लिए घन-पटल में से अभी अभी वह प्रकट हुआ है।

चूड़ावतजी हाथ में लगाम लिये ही, बादल के जाल से निकले हुए उस पूर्णचन्द्र पर टकटकी लगाये खड़े हैं। जालीदार खिड़की से छन-छनकर आने वाली चाँद की चटकीली चाँदनी ने चूड़ावत चकोर को आपे से बाहर कर दिया है! हाथ की लगाम हाथ ही में है, मन की लगाम खिड़की में है! नये प्रेम-पाश का प्रबल बन्धन प्रतिज्ञा पालन के पुराने बन्धन को ढीला कर रहा है! चूड़ावतजी का चित्त चञ्चल हो चला। वे चटपट चन्द्रभवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिन्ता में चूर हैं, पर चन्द्रदर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे सङ्गमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चन्द्र-भवन पर चढ़ चुके, पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।

हृदय-हारिणी हाड़ी रानी भी, हिम्मत की हद करके हल्की आवाज़ से बोलीं,—"प्राणनाथ! मन मलिन क्यों

है ? मुखारविन्द मुर्झाया क्यों है ? न तन में तेज ही देखती हूँ; न शरीर में शान्ति ही ! ऐसा क्यों ? भला, उत्साह की जगह उद्वेग का क्या काम है ? उमंग में उदासीनता कहाँ से चू पड़ी ? क्या कुछ शोक-संवाद सुना है ? जब कि सभी सामन्त-सूरमा संग्राम के लिए सज-धज कर आप ही की आज्ञा की आशा में अटके हुए हैं, तब क्या कारण है कि आप व्यर्थ व्याकुल हो उठे हैं ? उदयपुर के बाजे-गाजे के तुमुल शब्द से दिग्दिगन्त डोल रहा है ! वीरों के हुंकार से कायरों के कलेजे भी कड़े हो रहे हैं। भला ऐसे अवसर पर आपका चेहरा क्यों उतरा हुआ है ? लड़ाई की ललकार सुनकर लंगड़-लूलों को भी लड़ने भिड़ने की लालसा लग जाती है, फिर आप तो क्षात्र-तेज से भरे हुए क्षत्रिय हैं। प्राणनाथ ! शूरों को शिथिलता नहीं शोभती। क्षत्रिय का छोटा-मोटा छोकरा भी क्षण भर में शत्रुओं को छील डाल कर छुट्टी कर देता है, परन्तु आप प्रसिद्ध पराक्रमी होकर क्यों पस्त पड़ गये ?

चूड़ावत जी चन्द्रमा में चपला की सी चमक-दमक देख, चकित होकर, बोले—"प्राणप्यारी ! रूपनगर के राठौरवंश की राजकुमारी को दिल्ली का बादशाह बलात्कार से ब्याहने आ रहा है, इसके पहले ही वह राजकन्या हमारे माननीय राणा बहादुर को वर चुकी है। कल पौ

फटते ही राणाजी रूपनगर की राह लेंगे। हम बीच ही में बादशाह की राह रोकने के लिए रण-यात्रा कर रहे हैं। शूर-सामन्तों की सैकड़ों सजीली सेनाएँ साथ में हैं सही, परन्तु हम लड़ाई से अपने लौटने का लक्षण नहीं देख रहे हैं। फिर कभी भर नजर तुम्हारे चन्द्र-वदन को देख पाने की आशा नहीं है। इस बार घनघोर युद्ध छिड़ेगा। हम लोग मन मनाकर, जी जान से, लड़ेंगे। हज़ारों हमले हड़प जायेंगे। समुद्र सी सेना भी मथ डालेंगे। हिम्मत हर्गिज न हारेंगे। फौलाद-सी फौज को भी फ़ौरन फाड़ डालेंगे। हिम्मत तो हज़ारगुनी है, मगर मुग़लों की मुठभेड़ में महज़ मुट्ठी भर मेवाड़ी वीर क्या कर सकेंगे? तो भी हमारे ढलैत, कमनैत और बानैत ढाढ़स बाँध कर डट जायँगे। हम सत्य की रक्षा के लिए पुर्जे-पुर्जे कट जायेंगे। प्राणेश्वरी! किन्तु हमको केवल तुम्हारी ही चिन्ता बेढब सता रही है। अभी चार ही दिन हुए कि, तुम-सी सुहागिन दुलहिन हमारे हृदय में उजेला करने आई है। अभी किसी दिन तुम्हें इस तुच्छ संसार की क्षणिक छाया में विश्राम करने का भी अवसर नहीं मिला है! किस्मत की करामात है! एक ही गोटी में सारा खेल मात है! किसे मालूम था कि एक तुम-सी अनूपरूपा कोमलाङ्गी के भाग्य में ऐसा भयंकर लेख होगा! अचानक रंग में

भंग होने की आशा कभी सपने में भी न थी! किन्तु ऐसे ही अवसरों पर हम क्षत्रियों की परीक्षा हुआ करती है। संसार के सारे सुखों की तो बात ही क्या, प्राणों की भी आहुति देकर क्षत्रियों को अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है।"

हाड़ी रानी, हृदय पर हाथ धर कर, बोली,—"प्राणनाथ! सत्य और न्याय की रक्षा के लिए, लड़ने जाने के समय, सहज-सुलभ सांसारिक सुखों की बुरी वासना को मन में घर करने देना आप के समान प्रतापी क्षत्रिय-कुमार का काम नहीं है। आप आपात मनोहर सुख के फंदे में फँसकर अपना जातीय कर्त्तव्य मत भूलिए। सब प्रकार की वासनाओं और व्यसनों से विरक्त हो कर इस समय केवल वीरत्व धारण कीजिए। मेरा मोह-छोह छोड़ दीजिए। भारत की महिलाएँ स्वार्थ के लिए सत्य का संहार करना नहीं चाहतीं। आर्य्य-महिलाओं के लिए समस्त संसार की सारी संपत्तियों से बढ़कर सतीत्व ही अमूल्य धन है! जिस दिन मेरे तुच्छ सांसारिक सुखों की भोग-लालसा के कारण मेरी एक प्यारी बहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा, उसी दिन मेरा जातीय-गौरव अरवली-शिखर के ऊँचे मस्तक से गिरकर चकना-चूर हो जायगा। यदि नव-विवाहिता उर्मिलादेवी ने वीर शिरोमणि लक्ष्मण को

सांसारिक सुखोपभोग के लिए कर्त्तव्य-पालन से विमुख कर दिया होता तो, क्या कभी लखनलाल को अक्षय्य यश लूटने का अवसर मिलता ? वीर-बधूटी उत्तरादेवी ने यदि अभिमन्यु को भोग-विलास के भयङ्कर बन्धन में जकड़ दिया होता तो, क्या वे देव-दुर्लभ गति को पाकर भारतीय क्षत्रिय-नन्दनों में अग्रगण्य होते ? मैं समझती हूँ कि यदि तारा की बात मानकर बाली भी, घर के कोने में मुँह छिपाकर, डरपोक-जैसा छिपा हुआ, रह गया होता तो उसे वैसी पवित्र मृत्यु कदापि नसीब न होती। सती-शिरोमणि सीतादेवी की सतीत्व-रक्षा के लिए जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई जरूर; लेकिन उसने जो कीर्त्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में भी नहीं समाई। वीरों का यह रक्त मांस का शरीर अमर नहीं होता; बल्कि उनका उज्ज्वल-यशोरूपी शरीर ही अमर होता है। विजय-कीर्त्ति ही उनकी अभीष्ट-दायिनी कल्पलतिका है। दुष्ट शत्रु का रक्त ही उनके लिए शुद्ध गंगा-जल से भी बढ़ कर है। सतीत्व के अस्तित्व के लिए रण-भूमि में ब्रजमण्डल की सी होली मचानेवाली खड्ग-देवी ही उनकी सती सहगामिनी है। आप सच्चे राजपूत वीर हैं; इसलिए सोत्साह जाइए और जाकर एकाग्र मन से अपना कर्त्तव्य पालन कीजिये। मैं भी यदि

सच्ची राजपूत-कन्या हूँगी तो शीघ्र ही आप से स्वर्ग में जा मिलूँगी। विशेष विलम्ब करने का सामय नहीं है।"

चूड़ावतजी का चित्त हाड़ी रानी के हृदयरूपी हीरे को परख कर पुलकित हो उठा। प्रफुल्लित-मन-से चूड़ावतजी ने रानी को बार-बार गले से लगाया। मानों वे उच्च भावों से भरे हुए, हाड़ी रानी के, स्पर्श से अपना लोह-कर्कश हृदय सुवर्णमय बना रहे हों। सचमुच, ऐसे ही हृदयों के आलिङ्गन से मिट्टी की काया भी कंचन की हो जाती है। चूड़ावतजी आप से आप कह उठे, "धन्य देवी! तुम्हारे विराजने के लिए वस्तुतः हमारे हृदय में बहुत ही ऊँचा सिंहासन है। अच्छा, अब हम मरकर अमर होने जाते हैं। देखना, प्यारी! कहीं ऐसा न हो कि—" (कंठ गद्गद् हो गया)

रानी ने फिर उन्हें आलिङ्गित करके कहा,—"प्राण-प्यारे! इतना अवश्य याद रखिए कि छोटा बच्चा चाहे आसमान छू ले, सीपी में सम्भवतः समुद्र समा जाय, हिमालय हिल जाय तो हिल जाय; पर भारत की सती देवियाँ अपने प्रण से तनिक भी नहीं डिग सकतीं।"

चूड़ावतजी प्रेम-भरी नजरों से एकटक रानी की ओर देखते-देखते सीढ़ी से उतर पड़े। रानी सतृष्ण नेत्रों से ताकती रहगई।

× × × ×

चूड़ावतजी घोड़े पर सवार हो रहे हैं। डंके की आवाज़ घनी होती जा रही है। घोड़े फड़क-फड़क कर अड़ रहे हैं। चूड़ावतजी का प्रशस्त ललाट अभी तक चिन्ता की रेखाओं से कुंचित है। रतनारे लोचन-ललाम रण-रस में पगे हुए हैं।

उधर रानी विचार कर रही हैं—"मेरे प्राणेश्वर का मन मुझ में ही यदि लगा रहेगा तो विजय-लक्ष्मी किसी प्रकार उनके गले में जयमाल नहीं डालेगी। उन्हें मेरे सतीत्व पर संकट आने का भय है। कुछ अंशों में यह स्वाभाविक भी है।"

इसी विचार-तरङ्ग में रानी डूबती-उतराती हैं। तब तक चूड़ावतजी का अन्तिम संवाद लेकर आया हुआ एक प्रिय सेवक विनम्र भाव से कह उठता है—"चूड़ावतजी चिह्न चाहते हैं—'दृढ़ आशा और अटल विश्वास का।' सन्तोष होने योग्य कोई अपनी प्यारी वस्तु दीजिए। उन्होंने कहा है, कि "तुम्हारी ही आत्मा हमारे शरीर में बैठकर इसे रणभूमि की ओर लिये जा रही है। हम अपनी आत्मा तुम्हारे शरीर में छोड़कर जा रहे हैं।"

स्नेह-सूचक संवाद सुनकर रानी अपने मन में विचार रही हैं—"प्राणेश्वर का ध्यान जब तक इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा तब तक निश्चय ही वे कृतकार्य नहीं होंगे।" इतना सोचकर बोलीं—"अच्छा खड़ा रह, मेरा सिर लिये जा।"

जब तक सेवक 'हाँ ! हाँ !' कह कर चिल्ला उठता है, तब तक दाहिने हाथ में नंगी तलवार और बायें हाथ में लच्छेदार केशोंवाला मुण्ड लिये हुए रानी का धड़, विलास-मन्दिर के संगममर्मरी फर्श को सती-रक्त से सींच-कर पवित्र करता हुआ, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।

बेचारे भय-चकित सेवक ने यह "दृढ़ आशा और अटल विश्वास का चिह्न" काँपते हुए हाथों से ले जाकर चूड़ावतजी को दे दिया। चूड़ावतजी प्रेम से पागल हो उठे। वे अपूर्व आनन्द में मस्त होकर ऐसे फूल गये कि कवच की कड़ियाँ धड़ाधड़ कड़क उठीं।

सुगन्धों से सींचे हुए मुलायम बालों के गुच्छों को दो हिस्से में चीरकर चूड़ावतजी ने, उस सौभाग्य-सिन्दूर से भरे हुए, सुन्दर शीश को गले में लटका लिया। मालूम हुआ, मानों स्वयं भगवान् रुद्रदेव भीषण भेष धारणकर शत्रु का नाश करने जा रहे हैं। सब को भ्रम हो उठा कि गले में काले नाग लिपट रहे हैं, या लम्बी-लम्बी सटकार लटें हैं। अटारियों पर से सुन्दरियों ने भर-भर अञ्जलि फूलों की वर्षा की, मानों स्वर्ग की मानिनी अप्सराओं ने पुष्पवृष्टि की। बाजे-गाजे के शब्दों के साथ घहराता हुआ आकाश फाड़ने वाला, एक गम्भीर स्वर चारों ओर से गूँज उठा—

"धन्य मुण्डमाल" !!!

श्री विनोदशंकर व्यास

व्यासजी का जन्म सन् १९०१ में हुआ। पढ़ने-लिखने में इनका जी नहीं लगता था। फलतः इनके कुटुम्बी इनसे अप्रसन्न रहते थे। परन्तु जब ये साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए और इन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया तो सब की अप्रसन्नता हवा हो गई।

इनकी कहानियाँ भावप्रधान होती हैं। इनके करुण चित्र बड़े ही मर्मस्पर्शी होते हैं। इनकी भाषा-शैली सरल और हृदय-ग्राही होती है।

इनकी कहानियों के दो-तीन संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। 'मधुकरी' नामक कहानी-संग्रह के सम्पादन में तथा उसकी विस्तृत भूमिका लिखने में इन्होंने पर्याप्त सफलता पाई है।

आत्म-हत्या

ख़ून का मुकदमा था! नगर भर में इस हत्या की चर्चा थी। अभियुक्त, हथकड़ी-बेड़ी से लदा हुआ, कोर्ट के द्वार पर, लाल-पगड़ी के शासन में खड़ा था।

शान्तिप्रकाश ने चौंककर देखा—उसके नाम की ही पुकार हो रही थी। सिपाही लोग उसे धक्का देते हुए भीतर ले गये। वह अजायब-घर के एक जन्तु की तरह देखा जाने लगा।

दो दिन कारावास में कटे थे, आज मुद्दालेह का बयान था। कठघरे में खड़ा अभियुक्त शान्तिप्रकाश कितना भयानक हो गया था—देखने लायक दृश्य था!

उसकी सरस आँखें कितनी गम्भीर हो गई थीं। आँखों में एक डरावना तेज था! निर्भीकता से उसने जज को अपना लिखित बयान दिया, जो इस तरह था—

"मैं दरिद्रता की गोद में पला हूँ। सुख किसे कहते हैं, मैं नहीं जानता। मेरी माता का देहान्त, जब मैं पाँच बर्ष का था तभी हो गया था। मेरे पिता नौकरी करते थे और मैं उन्हीं के साथ रहता था। पिता को छोड़ इस संसार में मेरा कोई अपना न था। सब अपने दिन पूरे करके चले गये थे। पिता जी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था कि मैं पढ़-लिख कर होनहार बनूँ, मेरा भविष्य उज्ज्वल हो। उनके वेतन में से आधे से अधिक केवल मेरे पठन-पाठन में व्यय होता था। वृद्धावस्था में भी घोर परिश्रम करके २०) रुपये मासिक से अधिक वे पा ही न सके। मेरे सुख की कल्पना करके उन्होंने अपने सुख को मिट्टी में मिला दिया था।

"इसी तरह कई वर्ष व्यतीत हो गये। मैं बड़े परिश्रम से अध्ययन करता रहा। एंट्रेंस पास हो गया था। उसी साल, न जाने कैसे व्यवस्था करके, पिताजी ने मेरा विवाह कर दिया था। अब, भोजन हम लोगों को अपने हाथ से न बनाना पड़ता था। किन्तु विवाह होने पर झंझट और भी बढ़ गई!! २०) मासिक में निर्वाह न हो पाता,

अतएव रात्रि के समय भी पिताजी को एक जगह काम करने जाना पड़ता था। मुझसे उनका कष्ट देखा न जाता; किन्तु करता ही क्या ? कोई उपाय न था !

"मैंने एक दिन उनसे कहा—"बाबूजी, अब तो मैं सयाना हो गया हूँ, एंट्रेंस भी पास कर चुका; आज्ञा दीजिये, तो कोई नौकरी कर लूँ।"

"उन्होंने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया—"बेटा, अभी तुम्हारा पढ़ने का समय है, नौकरी तुम्हें कहाँ मिलेगी ? एंट्रेंस वालों को पन्द्रह रुपये पर भी कोई नहीं पूछता। कम-से-कम बी० ए० तो पास कर लो, ताकि भविष्य में भली भाँति अपना निर्वाह कर सको।"

"मैं चुप हो गया। फिर कभी यह प्रश्न नहीं उठाया। मैं कालेज में पढ़ने लगा।

"तीन वर्ष और समाप्त हो गये।

"मेरी स्त्री अपने इस जीवन से सन्तुष्ट थी। जैसे उसे कोई लालसा ही न हो ! पिताजी उसका बड़ा आदर करते थे। दरिद्रता के भीषण तांडव-नृत्य में भी वह हँसती हुई दिखाई देती थी। उसकी ऐसी मनोवृत्ति देखकर मैं मन-ही-मन प्रसन्न होता था, अपने को भाग्यशाली समझता था।

"उस वर्ष मैंने बी० ए० की परीक्षा दी थी, सफलता

की पूर्ण आशा थी; किन्तु भगवान से मेरा इतना सुख भी न देखा गया, एकाएक मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा। पिताजी बीमार पड़े, दो दिन की बीमारी में ही चल बसे!

"अन्तिम समय में उन्होंने मुझ से कहा—"बेटा, मैं अपने इस सांसारिक जीवन की परीक्षा दे चुका, भगवान ने मुझे उत्तीर्ण कर दिया है—मैं जा रहा हूँ, तुम सुखी रहो।"

"वे चले गये। मेरे मन में दो बातों की कसक रह गई—एक तो वह मेरे पुत्र को न देख सके, जो उनकी मृत्यु के दो मास पश्चात् पैदा हुआ और दूसरी यह कि मैं अपने उपार्जित धन से उनकी कुछ सेवा न कर सका।

"मेरे कष्टों ने अपना और भी भयङ्कर रूप बना लिया। पुत्र हुआ। दरिद्रता जीवन से परिहास कर रही थी। मेरी समझ में न आता था, क्या करूँ! घर में भोजन का प्रबन्ध न था। मेरी पत्नी की बड़ी ही शोचनीय दशा थी। शरीर पीला पड़ गया था, एक सूखा कंकाल मात्र बच गया था। मैंने उसके कुछ आभूषणों को बेचकर काम चलाया।

"मैं बी० ए० पास हो गया था। कई स्कूलों और दफ़्तरों में नौकरी के लिए मैंने प्रार्थना-पत्र भेजे थे, किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। मैं बेकार कई महीने तक चेष्टा करता रहा। अन्त में मुझे एक स्कूल में अध्यापक का स्थान मिला, वेतन ३०) मासिक था।

"मैं बड़े परिश्रम से अध्यापन-कार्य करता रहा। कुछ लड़के मेरी पढ़ाई से असन्तुष्ट थे। प्रधानाध्यापक और अन्य अध्यापकगण मेरी ओर से सदा उदासीन रहा करते थे। इसका मुख्य कारण था, मेरा फटा कोट, सिली हुई धोती और मैली टोपी! मेरी स्थिति ही ऐसी न थी कि मैं अपने जीवन में वस्त्रों द्वारा कुछ परिवर्तन कर डालता, इसलिए उन लोगों से हिल-मिल न सका। उनकी दृष्टि में रुखाई देखकर मुझे साहस भी न होता था।

"छः मास के बाद मुझे स्कूल छोड़ देने के लिए सूचना मिली। कारण यह बतलाया गया कि विद्यार्थी पढ़ाई से असन्तुष्ट हैं।

"विवश होकर मैंने स्कूल छोड़ दिया। अब कोई साधन न रहा। बहुत चेष्टा की; किन्तु इस बार तो निराश ही होना पड़ा। कहीं स्थान न मिला। पड़ोस के कुछ बालकों को पढ़ा कर चार-पाँच रुपये मिल जाते। आधे पेट और उपवास से दिन कटने लगे।

"मनुष्य-मात्र से घृणा हो चली। कभी सोचता—मनुष्य इतना भयानक क्यों है? लोग एक दूसरे को खा जाने के लिए प्रस्तुत क्यों है? मनुष्य ने ईर्षा, द्वेष, घृणा की रचना करके संसार में अपना विचित्र रूप प्रगट किया है। आह! संसार में प्रलय क्यों नहीं होती—आग क्यों

नहीं लगती—लोग उसमें क्यों नहीं जल जाते—हाहाकार क्यों नहीं मचता कि मैं भी उसी में जल कर अपनी इस दुर्बल आह को बुझा कर शान्त कर देता ?

"ईश्वर में अश्रद्धा हो गई। नहीं-नहीं, विश्वास ही उठ गया! पुण्य और पाप में, नरक और स्वर्ग में, सन्देह होने लगा।

"मेरी पत्नी बालक को गोद में ले कर रो रही थी। मैंने पूछा—"तुम क्यों रोती हो ? मरना तो है ही, रोकर क्यों प्राण दिये जायँ ?"

"उसने सिसकते हुए कहा—"आपके कष्टों को देखकर रोती हूँ।"

"मैंने कहा—"संसार में मनुष्य कितना झूठ बोलते हैं! धन ही सब कुछ है। 'ईश्वर' नाम की कोई चीज़ नहीं है।"

"उसने च...च...च...करते हुए कहा—"ऐसा न कहो; ईश्वर है। उस पर अविश्वास करना पाप है। यह तो हम लोग अपने पूर्व-जन्म का फल भोग रहे हैं।"

"मैंने समझा, यह मूढ़ है। यह इन रहस्यों को क्या समझेगी। यदि ईश्वर होता, तो अन्याय न करता—निर्धन और धनी की श्रेणी न बनाता—एक को विलास और ऐश्वर्य का सम्राट् बनाकर दूसरे को एक-एक दाने के लिए मुहताज न करता!

"दिन-भर का उपवास था। उस दिन भोजन का कोई प्रबन्ध न था। बालक तक भूखा था। घर में कुछ बर्तनों के सिवा कुछ न बचा था। पीतल का एक पुराना लोटा लेकर मैं बाजार में उसे बेचने के लिए गया। उसे बेचा; उस दिन का काम चला। रात-भर नींद न आई; हृदय में भीषण कोलाहल था। विचार करने लगा—

"भीख भी नहीं माँग सकता! पढ़ा-लिखा आदमी हूँ, कैसे साहस होगा?

"फिर?

"आत्महत्या करूँ?

"नहीं, वह कैसे हो सकता है? स्त्री और पुत्र फिर क्या करेंगे? उनका निर्वाह कैसे होगा?

"तब, उनका भी अन्त कर दूँ? किन्तु साहस नहीं! ऐसी स्त्री की जिसने अपना सब सुख मेरे चरणों पर अर्पित कर दिया है—आह! उस देवी की हत्या मैं कैसे कर सकूँगा?

"उन्मत्त विचारों में परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ। मैंने अपनी मृत्यु के अनेक उपायों का अन्वेषण किया। दरिद्रता का नृत्य देखते-देखते कभी मेरे नेत्रों के सम्मुख सड़कों और गलियों में पड़े अधमरे, अन्धे लंगड़े लूले और भूखे भिखारियों के चित्र फिरने लगते। मैं

तड़पने लगता। मेरा दम घुटने लगता। मैंने मन में फिर कहा—दरिद्रों के लिए क़ानून क्यों नहीं बनाया जाता कि उनको फाँसी दे दी जाय, बस उनके कष्टों का एक साथ ही अन्त हो जाय। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं ही उनकी हत्या करके उनको कष्टों से छुड़ा दूँगा और अन्त में इसी अपराध में अपने को भी सांसारिक दुःखों से मुक्त कर सकूँगा।

"दूसरे दिन मैंने अपनी स्त्री से कहा—"तुमको मेरे कारण कड़ा कष्ट उठाना पड़ा है। सचमुच तुम्हारा अभाग्य था जो मेरे साथ तुम्हारा विवाह हुआ। तुम देवी हो, मैं तुम्हारे योग्य न था।"

"मेरी आँखें छलछला उठीं।

"उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखते हुए कहा—"आप ऐसी बातें क्यों करते हैं?"

"वह रोने लगी।

"दिन बीत गया। रात हो चली थी। मैं घर से निकला। वह सो रही थी। मैं जी भरकर उसके सरल सौन्दर्य को देख लेने की चेष्टा कर रहा था। अन्तिम भेंट की कल्पना थी। हाथ में छुरा लेकर घर से निकला। सन्नाटे में भटक रहा था।

"गंगा-तट पर आया। देखा, एक भिखारी पड़ा-था।

मैं वहीं खड़ा हो गया । मेरी नस-नस में उन्माद का संचार हो रहा था । वह पड़ा हुआ कराहता था ।

"मैंने पूछा—"क्य चाहते हो ? क्या सुख चाहिये ?"

"उसने बड़े धीमे स्वर में कहा—"बाबू, मर रहा हूँ, जान भी नहीं निकलती !"

"मैंने तीखे स्वर में पूछा—"जान देना चाहते हो ?"

"उसने कहा—"हाँ·····न······हीं ।"

"जान दे देने पर ही तुम्हें सुख मिलेगा"—कहते हुए मैंने छुरे को उसकी छाती के पार कर दिया। वहाँ से खून से लथपथ हाथों से, आकर थाने में अपना बयान दिया, जो आपके सामने है । मैं अपराध को स्वीकार करता हूँ , मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है। मुझे फाँसी चाहिये, इसी में मुझे शान्ति मिलेगी ।

"हाँ एक बात के लिए मैं कोर्ट से प्रार्थना करता हूँ कि वह मेरे बच्चे और स्त्री को भी फाँसी देकर मेरी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करे। संसार में मृत्यु से बढ़कर हम लोगों के लिए कोई सुख नहीं है । अतएव शीघ्र-से शीघ्र हमारा निर्णय हो ।

—शान्तिप्रकाश बी० ए०"

× × ×

२

जज ने ध्यान से उसके लिखित बयान को पढ़ा। उसने बार-बार अपनी बड़ी-बड़ी गम्भीर आँखों से अपराधी की ओर देखा। सरकारी, वकील खड़ा था। कोर्ट शान्त था। प्रश्न आरम्भ हुए। दर्शक उत्सुकता से आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे।

जज ने पूछा—"हाँ तो तुम मरना चाहते थे? क्यों?"

"अब भी चाहता हूँ।"

"मरने के लिए क्या यही सर्वोत्तम उपाय तुमने सोचा था? मरने के और भी ढंग थे"—जज ने शासन की आँखों से देखते हुए कहा।

अभियुक्त चुपचाप अपनी खूनी आँखों से जज की तरफ़ देख रहा था; उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

"क्या तुम उत्तर नहीं दोगे?"—जज ने फिर पूछा।

"मैं अपने बयान से कुछ अधिक नहीं कहना चाहता। मैं मृत्यु-दण्ड चाहता हूँ, मुझे फाँसी चाहिये, फाँसी! जीते-जागते कठपुतलो! मुझे व्यर्थ क्यों छेड़ते हो? धन की लालसा में रक्त की धारा बहा देने वालो! मुझ से बहस न करो। ऐश्वर्य के कुञ्ज में विहार करने वाले धनिको! तुम्हें क्या मालूम, कंकड़ों पर सोने में कितनी व्यथा है—भूखे पेट की क्या हालत होती है?

बस, बस, अब विलम्ब न करो। शान्ति से मुझे मरने दो। मेरा निर्णय करो।"

सब आश्चर्य से इस विचित्र अभियुक्त को देख रहे थे।

जज आँखें गुरेर कर देख रहा था। सरकारी वकील ने धीरे से कहा—"हुजूर, यह बड़ा भयानक मालूम पड़ता है।"

प्रश्न बन्द हुए। जूरियों से जज ने सम्मति ली। अपने कमरे में जाकर फैसला लिखा—बीस वर्ष के लिए कालापानी!

फाँसी नहीं हुई!!

अभियुक्त ने फैसला सुनकर कर्कश स्वर में कहा—"तड़पा-तड़पा कर मारने से अच्छा है कि एक ही बार मार डालो।"

जज ने शेर की तरह गरज कर कहा—"वहाँ तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध सरकार कर देगी। चुप रहो।"

सिपाहियों की ओर देखते हुए जज ने संकेत किया—"ले जाओ इसे यहाँ से।"

बेड़ी खनखनाई। सिपाहियों ने गर्दन पर झटका देते हुए कहा—"चल!'

३

दस वर्ष के बाद—

शान्तिप्रकाश पोर्टब्लेयर के पास, समुद्र-तट पर

पत्थरों के बाँध बना रहा था। फावड़ा रखकर रुक, पसीना पोंछते हुए, उसने एक बार समुद्र का भीषण हाहाकार देखा। किरणें डूब रही थीं। उस जगह और कोई कैदी न था। अन्धकार हो चला था। सब अपने झोपड़ों की तरफ लौटने लगे। सहसा पास के झुरमुट से चिल्लाने का स्वर सुन पड़ा।

शान्तिप्रकाश उधर दौड़ा। उसने देखा कि एक कुली एक स्त्री पर अत्याचार किया ही चाहता है। न जाने क्यों, उसका फावड़ा वेग से चल पड़ा। बेचारी स्त्री उस कुली के अत्याचार से मुक्त होकर शान्तिप्रकाश को देखने लगी—और वह उसे देखने लगा।

दूसरे ही क्षण स्त्री ने कहा—"मेरे नाथ! मेरे स्वामी !!"

शान्तिप्रकाश ने पूछा—"गोमती! तुम हो? और किशोर कहाँ है?"

स्त्री ने कहा—"किशोर भूख से तड़प कर मर गया। उसका अन्तिम संस्कार कैसे किया जाता, इसलिए उसके शव को झोपड़ी में ही रखकर मैंने आग लगा दी। मैं भी उसी अपराध के कारण द्वीपान्तर का दंड पाकर आई हूँ।"

शान्तिप्रकाश और गोमती की आँखों में जैसे आँसू सूख गये थे। वह भयानक मिलन बड़ा ही कठोर था।

शान्तिप्रकाश ने विचार करते हुए कहा—"अच्छा चलो, हम लोगों को भागना पड़ेगा। सम्भवतः यह आदमी मर गया। तुम्हारी और किशोर की कथा बाद में सुनूँगा, पहले जीते रहने का प्रबन्ध करना पड़ेगा।"

दोनों को उस धुँधले में किसी के आने का सन्देह होने लगा। वे भाग चले। वे भागते-भागते फिर उसी समुद्र-तट पर आये।

दोनों हाँफ रहे थे। अब उनका पकड़ा जाना निश्चित था; क्योंकि पुलिस पास पहुँच चुकी थी।

शान्तिप्रकाश ने निराश दृष्टि से एक वार गोमती की ओर देखा।

उसने आँखों की भाषा में कहा—'हाँ!'

दोनों, हाथ में हाथ मिलाकर, समुद्र में कूद पड़े!

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'

इनका जन्म संवत् १९५९ वि० में ऊपरडीह (गया) में हुआ था। ये केवल कवि और लेखक ही नहीं—चित्रकार भी हैं। बड़े गम्भीर और मिष्टभाषी हैं।

इनकी रचनाओं में मानव-जीवन के अन्तर्द्वंदों का चित्रण रहता है। इनके 'निर्माल्य' और 'एकतारा' दो काव्य ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। दोनों पुस्तकों का अच्छा मान हुआ है। ये गल्प भी लिखते हैं। हिन्दी को इनसे बहुत आशाएँ हैं।

गुड़िया

१

रंग-बिरंगे कपड़े की टुकड़ियाँ इकट्ठी करके गुड़िया बनाना ही उसका काम था। भगवान मरीचिमाली की प्रथम किरणें जिस समय शिशिर-बिन्दुओं पर पड़ती थीं, उस समय से लेकर दिवसान्त पर्यन्त वह केवल गुड़िया बनाया करता था।

प्रत्येक गुड़िया में अनेक रंग के वस्त्र-खंडों का संयोग रहता था। कोई खंड अग्नि-शिखा सा लाल तो कोई अनन्त नीलाम्बर की तरह श्याम।

एकान्त में बैठ कर वह गुड़िया बनाता और गोधूलि के समय बेच डालता। बस यही उसका दैनिक काम था।

२

एक बालिका उसके निकट नित्य प्रति अपने क्षुद्र आँचल में धान की खीलें भर कर आती थी, और गुड़ियों से विनिमय कर चली जाती थी। बहुत दिनों से यही क्रम था।

वह उस बालिका के भोले-भाले मुख-मण्डल पर उदास दृष्टि डालता और उसके आँचल को गुड़ियों से भर देता। धीरे-धीरे बालिका के घर में गुड़ियों का पहाड़ बन गया और उसके घर में खीलों का स्तूप।

३

कुछ दिनों के बाद उस बालिका का गुड़िया लेने आना एक दम बन्द हो गया। वह भी गुड़िया बनाकर घर में ही रख छोड़ता था। धीरे-धीरे टोकरी से भरकर खाँचे, और खाँचे से भर कर घर भर में गुड़ियाँ फैल गयीं। अब उस बेचारे के लिए उठने-बैठने की जगह भी शेष न रही। सारा घर गुड़ियों के अधिकार में चला गया। गुड़ियों के स्थावर अधिकार के सामने उसके अस्थावर अधिकार का अस्तित्व लोप हो गया।

४

कुछ वर्षों के बाद एक रानी उसके यहाँ एक बालिका के साथ गुड़िया ख़रीदने आयी।

उस रानी के साथ रथ और पदाति सेना का एक समूह भी आया।

रानी ने कहा—"मुझे गुड़िया चाहिये।"

वह बोला—"गुड़िया तो हैं पर बिक्री की नहीं।"

रानी बोली—'क्यों ?"

उसने कहा—"उतना मूल्य देने वाला कोई नहीं है।"

रानी ने सिर झुका कर कहा—"मैं मूल्य दूँगी।"

देखते-देखते गुड़ियों से कई गाड़ियाँ भर गयीं। कषाघात खाकर घोड़े गाड़ियाँ खींचने लगे।

उसने कहा—"अब, मूल्य मिलना चाहिये ?"

रानी बोली—"लो !"

उसने कुर्ते का दामन फैला दिया और रानी ने आँचल खोल कर उसे हीरों से भर दिया। हीरों पर नैराश्य पूर्ण दृष्टि डाल कर उसने कहा—"ये मेरे किस काम के ? मुझे तो खीलें चाहियें ?"

रानी ने कहा—"पहले मेरी दृष्टि में खीलों का उतना ही मूल्य था, जितना आज इन पत्थर के टुकड़ों का ! मैंने तो अपने जानते तुम्हें खीलें ही दी हैं, तुम चाहे जो समझो।"

श्री जनार्दनप्रसाद झा द्विज

ये कुशल गल्प-लेखक हैं। इनकी कहानियों में सामाजिक दुर्दशा का अच्छा चित्र खिंचा रहता है। ऐसा ज्ञान पड़ता है, लेखक के हृदय में पीड़ा है और वह उसे पाठकों के अन्तस्तल तक पहुँचा देना चाहता है। इनकी कहानियों में यूरोपीय ढंग पर सम्भाषण रहता है, और वही कहानी की सुन्दरता में चार चाँद लगा देता है। भाषा सरल और सादी होती है। इनकी कहानियाँ मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। इनका 'मालिका' नामक कहानियों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

मोक्ष की भिक्षा

"अब जाती हूँ सुधा"!

"क्यों ? आज इतनी जल्दी क्यों मचा रही हो कुसुम ?"

"लल्लन भैया आने वाले हैं, शायद आ गये हों।"

"आने वाले हैं ? और उनके दोस्त भी आ रहे हैं ?"

"कौन ? श्याम बाबू ?"—कुसुम ने तनिक मुसकरा कर पूछा।

"हाँ···"—कहते हुए सुधा का मुख-मंडल अनुरञ्जित हो उठा।

"अच्छा, सुधा" — उसका हाथ पकड़ कर कुसुम ने प्यार से पूछा—"सच कहना, भैया के दोस्त तुम्हें कैसे लगते हैं ?"

"बहुत ही अच्छे"— कह कर सुधा पैर के नाखून से धरती खुरचने लगी।

"अगर उन्हीं के साथ तुम्हारा ब्याह हो जाय ?"

"तो अन्धेर हो जाय !"

"क्यों ?"

"क्योंकि यह एक अनहोनी-सी बात है ।"

"ऐसा क्यों कह रही हो ?"

"अपना करम (भाग्य) टटोल कर, अपने माँ-बाप की रङ्गत देख कर।"

"कैसी रङ्गत ?"—कुसुम ने आश्चर्य और आशङ्का-भरी वाणी में पूछा।

"तुम क्या जानती नहीं हो कुसुम !"—सुधा ने सजल स्वर में कहना शुरू किया—"मेरे माँ-बाप और तुम्हारे माँ-बाप में कितना बड़ा भेद है ? तुम्हारे माँ-बाप तुम्हारा ब्याह करते समय केवल तुम्हारे वर का ख्याल रक्खेंगे और मेरे माँ-बाप केवल रुपयों का। तुम ब्याही जाओगी, मैं बेची जाऊँगी ! फिर भला यह कैसे हो सकता है कि मैं उन-सा गुणवान् पति पा जाऊँ ?"

अपनी प्यारी सखी की यह मर्म-भरी बात सुन कर कुसुम का हृदय भर आया। वह थोड़ी देर तक बिलकुल चुप रही। फिर उसने स्नेह-कम्पित स्वर में पूछा—"अच्छा मान लो, यह अनहोनी बात हो ही जाय ?"

"तो फिर मैं और किसी वस्तु की कामना ही न करूँ

बहन !"—सुधा ने आँखों में आँसू भर कर गद्गद् स्वर में उत्तर दिया—"उनके पैर पखार कर पीने में जो सुख मिले, उसके आगे दुनियाँ की और किसी वस्तु को पूछूँ ही नहीं—वही मेरे सब कुछ हो जायँ।"

"तुम उन्हें इतना प्यार करती हो ?"—कुसुम ने कुछ व्यथित होकर पूछा।

"उन्हें प्यार करने की लालसा किसके मन में न होगी बहन ?"—सुधा ने उसास भर कर उत्तर दिया—"पर यह कैसे कहूँ कि मैं उन्हें इतना प्यार करती हूँ ? ऐसा कहने का मुझे अधिकार ही क्या है ?"

"अधिकार से प्यार नहीं किया जाता बहन !" कुसुम ने गम्भीरता-पूर्वक कहा—"प्यार से अधिकार किया जाता है।"

"हाँ, बहन ! यह तो ठीक है।" सुधा ने कहा—"पर प्यार के लिए भी एक सहारा चाहिए।"

"वह तुम्हें मिल जायगा"—कह कर कुसुम ने उसे खींच कर अपनी छाती से लगा लिया।

सुधा का अन्तस्तल अधीर हो उठा वह सिसकने लगी !!

२

एक लड़की छिपकर दोनों की बातें सुन रही थी। फिर क्या था ? मुहल्ले भर की स्त्रियों में बात फैल गई।

वे कलियुग को कोसने लगीं । वेचारी सुधा के प्राण सङ्कट में पड़ गए । कुसुम को बड़ा क्लेश हुआ । उसने अपनी माँ से दिल खोल कर इस विषय पर बातें कीं—उसे बताया कि अपने भविष्य के लिए सुधा के हृदय में कितनी भयङ्कर चिन्ता है !

उस की माँ ने पूरी सहृदयता से काम लिया । उसने वालिका सुधा का अन्तस्तल पहचाना और उस के प्रति सच्ची सहानुभूति दिखाई । "अब धरती उलट जायगी", "आजकल की लड़कियों में लाज तो रह ही नहीं गई", "अब ये सब छोकरियाँ मेम बन जायँगी", "ऐसी ही वेहया वेटी से कुल में कलङ्क लगता है······"आदि बातें करने वाली स्त्रियों को उसने खूब फटकारा । कहा—"लड़की क्या झूठ कहती है ? पीड़ा है, इसीलिए तो कराहती है । ठीक ही तो कहती है कि उसके माँ-बाप घर-वर का कोई विचार ही नहीं करते । रुपयों से उन्हें काम रहता है—चाहे लड़की जन्म-भर को नरक में पड़ी-पड़ी रोया करे । अपनी बहनों की हालत देख कर ही तो वेचारी अपनी हालत का अनुमान कर रही है । किस के दिल में यह अरमान नहीं रहता कि उसे अच्छा घर-वर मिले, उस का जीवन सुख से कटे ? अपनी सखी के आगे कौन अपना कलेजा काढ़ कर नहीं रखना चाहती ? और अगर

लड़कियाँ अपने ही मन से—अपनी रुचि के अनुसार वर चुन लिया करें, तो इसमें बुराई ही क्या है ? क्यों इस तरह की बातें कर-करके बेचारी लड़की को पीड़ा पहुँचा रही हो ?"

श्याम से भी यह बात छिपी न रही। सुधा को वह जानता था। ललन के साथ छत पर बैठ कर जिस समय वह वीणा बजाते हुए आत्म-विस्मृत हो जाता, उस समय कुसुम के पीछे छिप कर बैठी हुई सुधा मुग्ध भाव से उसकी ओर निहारा करती; जब वह अपने स्वर कँपा कर गाने लगता, सुधा अपनी सारी सत्ता भूल जाती; जब वह भोजन करने बैठता, तब सुधा किसी न किसी बहाने अवश्य आ पहुँचती और आँगन के एक कोने में बैठ कर कभी रसोई-घर के बग़ल वाले कमरे में घुस कर न जानें किस बात पर कुसुम के साथ दिल खोल कर हँसा करती, जब वह अपने मित्रों के साथ शाम को घूमने निकलता, तब सुधा अपने दरवाज़े पर आँखें बिछाए चुपचाप दीवार की आड़ में खड़ी उस ओर देखा करती। श्याम को रह-रह कर यह बातें याद आने लगीं। उसका हृदय आन्दोलित हो उठा !!

जेठ महीने की दोपहरी—चारों ओर आग बरस रही थी। श्याम सोकर उठा। खिड़की खोलते ही उसने

देखा—सुधा सड़क पर खड़ी-खड़ी एकटक इसी ओर देख रही है ! श्याम की आँखें पड़ते ही वह दौड़ कर भाग गई। उसके हृदय में एक गहरी ठेस लगी। उसने एक गर्म आह खींच कर कहा—"आह ! इस लड़की के हृदय में बड़ी व्यथा है !"

लल्लन के उठते ही उसने वीणा बजाना शुरू किया। कुसुम आ बैठी, पर सुधा न थी। श्याम का उल्लास जाता रहा। उसने वीणा को रखते हुए बेचैनी के साथ कहा—"उफ़ ! बड़ी गर्मी है—किसी काम में मन नहीं लगता।"

कुसुम मुसकराती हुई कमरे से बाहर निकल गई।

लल्लन ने पूछा—"इस बार तुम इतने बेचैन क्यों हो उठे हो श्याम ?"

बेचैनी का भाव छिपाते हुए श्याम ने कहा—"नहीं तो; कोई खास कारण तो नहीं है—केवल गर्मी के मारे, उफ़ ! बड़ी गर्मी है।"

लल्लन ने कहा—"तुम्हारे इस 'उफ़' में तो हृदय की ज्वाला है ! मुझ से जो बात छिपा रहे हो, उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ।"

श्याम ने भर्राए हुए स्वर में जवाब दिया—"हाँ भाई ! बात तो ठीक ही है"

"तो क्या विचार है ?"—लल्लन ने ज़रा सँभल कर पूछा ।

"विचार क्या होगा ?"—श्याम ने बड़ी बेचैनी के साथ उत्तर दिया—"यही सोच रहा हूँ कि अभागिनी लड़की ने अपने हृदय में अरमान की एक ऐसी भयंकर आग सुलगा रक्खी है, जिसकी ज्वाला उसे पल भर भी चैन से न रहने देगी ।"

"क्या तुम उसकी इस आग को बुझाना चाहते हो ?"

"क्या मैं ऐसा कर सकता हूँ ?"

"बड़े साहस का काम है ।"

"प्राणों की बाज़ी लगानी पड़ेगी ?"

"नहीं ।"

"तब ?"

"नैतिक साहस चाहिए । उसके बाप छोटी जातियों के पुरोहित हैं । तुम एक ऊँचे कुल के हो । तुम्हारे माँ-बाप तुम्हें ऐसा न करने देंगे ?"

"इसके साथ ही एक और बात भी है ।"

"वह क्या ?"

"मेरे हृदय पर अधिकार किसी और का है ।"

लल्लन का हृदय पुलकित हो उठा । उसने कहा—

"तब वह फिर इस तरह व्याकुल क्यों हो रहे हो ? यह अस्थि-रता—यह व्यथा कैसी है ?"

"इस अस्थिरता में, इस व्यथा में"—श्याम ने उत्तर दिया—"सहानुभूति की मात्रा अधिक है। मुझे उस बालिका की व्यथा बेचैन बना रही है। क्या मैं किसी तरह उसकी सहायता नहीं कर सकता ?"

लल्लन ने खड़े होकर मुसकराते हुए कहा—"अच्छा, तब तक आप इस समस्या पर विचार करें, मैं ज़रा डाक-खाने हो आऊँ।"

लल्लन के चले जाने पर कुसुम ने कमरे में प्रवेश किया और पूछा—"भैया कहाँ गए ? अब जलपान की तैयारी करूँ न ?"

"भैया को आ जाने दो"—श्याम ने कहा—"तब जलपान की तैयारी करना। तब तक बैठो, तुम्हें वीणा सुनाऊँ।"

"इस बार तो वीणा बजाने में आपका मन नहीं लगता"—कुसुम ने धीरे से मुसकरा कर कहा—"शायद सुधा नहीं आती है इसीलिए !"

यह बात श्याम के कलेजे में तीर की तरह घुस गई। घायल होकर उसने कहा—"नहीं, यह बात नहीं है कुसुम ! लेकिन बताओ तो सही, वह अब यहाँ आती क्यों नहीं ? तुम से कुछ खटपट हो गई है क्या ?"

"हाँ"—कुसुम ने हँस कर जवाब दिया—"क्यों ? इसके लिए मुझे सज़ा मिलेगी क्या ?"

"नहीं, सच बताओ। बात क्या है ?"—श्याम ने बड़ी विनती के साथ पूछा।

कुसुम ने कहा—"आपके आगे आने में लजाती है।"

"क्यों ?"—श्याम ने पूछा—"पहले तो नहीं लजाती थी।"

"इस बार सब लोग जान गये हैं कि वह आप से ब्याह करना चाहती है।"—कुसुम ने निस्सङ्कोच भाव से उत्तर दिया।

"मुझ से ?"

"हाँ।"

"पगली हो गई है क्या ?"

"हाँ, आप ही के पीछे।"

"और उसके साथ तुम भी; क्यों ?

"नहीं; मैं उसके इस पागलपन पर मुग्ध हूँ। पहले मैं उसे जितना प्यार करती थी, अब उससे भी अधिक उसके इस पागलपन को प्यार करने लगी हूँ।"

"इसी से तो कहता हूँ कि तुम भी पगली हो गई हो।"

"शायद आपका कहना ठीक हो, पर उसके पागलपन को मैं पा नहीं सकती।"

"उसका पागलपन व्यर्थ है।"

"मैं चाहती हूँ कि उसका पागलपन फूले-फले।"

"अनहोनी बात नहीं हुआ करती।"

"मेरी लालसा है कि एक बार हो जाय—और वह इसी मामले में।"

"किस में?"

"उसके और आपके व्याह के मामले में।"

"उसके साथ मेरा व्याह नहीं हो सकता।"

"क्यों?"

"इसलिए कि मेरे हृदय पर किसी और का अधिकार है।"

"मगर उसके हृदय में आपके प्रति अगाध प्यार है।"

"मैं लाचार हूँ।"

"आपको अपनी लाचारी दूर करने का प्रयास करना चाहिए। आप पुरुष हैं। उस अनाथिनी का उद्धार कीजिए!"—इतना कहते-कहते कुसुम की आँखें डबडबा आईं, उसकी वाणी काँपने लगी।

श्याम ने उसका हाथ पकड़ कर भराए हुए स्वर में कहा—"कुसुम!"

"क्या?"

"तुम जानती नहीं हो कि मैं तुम्हें·····?"

"जानती हूँ"—कुसुम ने उत्तर दिया—"इसी से तो इस तरह खुल कर बातें कर रही हूँ। आप मुझे प्यार करते हैं, मैं भी आपको प्यार करती हूँ। पर अब से हम दोनों के बीच भाई-बहन का ही नाता रहेगा। मैं चाहती हूँ, सुधा मेरी भावज बन जाय। यदि आपके हृदय में मेरे प्रति सच्चा प्यार है, तो आप मेरी यह साध पूरी कर दीजिए।"

"कुसुम !" स्नेह-विगलित स्वर में श्याम ने कहा—"एक ही ठोकर से तुमने मुझे कितनी दूर फेंक दिया! हाय! तुमने यह क्या किया!"

"छिः"—कुसुम ने उस के आँसू पोंछते हुए कहा—"मर्द होकर भी आप इस तरह विह्वल हो रहे हैं? सोचिए तो सही; जब आप के मन की यह हालत है, तब आपको न पाकर सुधा के मन की क्या हालत होगी? सहृदयता तो इसमें है कि आप सुधा को मेरे पास खींच लाइए—उसे खाई-खन्दक में गिरने से बचाइए।"

"मगर मैं क्या कर सकता हूँ कुसुम?"

"आप नहीं तो और कौन कर सकता है?"

"मेरे घर वाले मुझे ऐसा न करने देंगे।"

"क्यों?"

"क्योंकि सुधा के बाप छोटी जातियों के पुरोहित हैं।"

"बस ? इसीलिए सुधा अछूत की बेटी हो गई ? जब आप-जैसे पढ़े-लिखे लोग इन बेहूदी बातों से इतना भय खायँगे, तब तो हमारे देश का उद्धार हो चुका ! व्याख्यान देते समय तो सब कुछ कह डालते हैं और असली काम करते समय यह हालत है ?"

"लेकिन उनके इस पेशे का समर्थन तो नहीं किया जा सकता न ?"

"क्यों ? आखिर वह बेचारा चार प्राणियों का पालन कैसे करे ? गुलामी करने से तो यह लाख दर्जे अच्छा है। और अगर अच्छा नहीं है, समाज समझता है कि इस पेशे में गौरव नहीं है, तो समाज को चाहिए कि उसके पेट का प्रश्न भी हल कर दे। केवल घृणा और उपेक्षा से ही तो काम नहीं चलता !"

"बात तो ठीक है, लेकिन···।"

'लेकिन, आप ऐसा नहीं कर सकते। आप समाज सुधार पर लम्बे-लम्बे व्याख्यान दे सकते हैं, अबलाओं की विवशता पर रुला देने वाले लेख लिख सकते हैं, पर एक ऐसी बालिका का उद्धार नहीं कर सकते, जो आप ही को अपना सब कुछ माने बैठी है।"

श्याम इसके आगे तर्क न कर सका। उसके हृदय में आत्म-ग्लानि का उदय हो आया। कुसुम की निःस्वार्थ और ऊँची भावनाओं ने उसके ऊपर जादू का असर किया। वह बोला उठा—"कुसुम ! तुम मुझे इतना हृदय-हीन और डरपोक समझ कर मेरे ऊपर घोर अत्याचार कर रही हो। सच कहो, क्या तुम्हारी यही आज्ञा है कि मैं तुमसे दूर हट कर सुधा में मिल जाऊँ ? सुधा में तुम इस तरह लीन हो गई हो कि वह भी मुझे तुम्हारी ही जैसी मालूम पड़ती है। उसके लिए भी मेरे हृदय में स्नेह और ममता की एक प्रबल धारा उमड़ रही है। पर पूछता हूँ, क्या तुम इसी अपराध का तो दण्ड नहीं दे रही हो ?"

"नहीं,"—कुसुम ने अपने हृदय का आवेग रोक कर बड़ी शान्ति के साथ जवाब दिया—"मैं सच्चे हृदय से यह अनुरोध कर रही हूँ। मेरे प्रति आपके हृदय में यदि थोड़ा-सा भी प्यार हो, तो आप मेरी यह विनती मान लें। आप नहीं जानते, मेरे लिए यह कितने बड़े गर्व और उल्लास की बात होगी।"

"तो मुझे तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य है।"

"भगवान् मेरी मनोकामना पूरी करें !"

इसी समय लल्लन ने मुसकराते हुए कमरे में प्रवेश किया।

"अब तो जलपान की तैयारी करूँ न ? —कह कर कुसुम तुरन्त वहाँ से बाहर निकल गई।

लल्लन ने पूछा—"समस्या हल हो गई ?"

श्याम ने उदास होकर उत्तर दिया—"इसका सारा श्रेय कुसुम को है। उसकी आज्ञा हुई कि मैं सुधा से अवश्य ब्याह करूँ !"

लल्लन ने सिर झुका लिया। उसकी आँखों से आँसू की बूँदें टपकने लगीं !!

३

"तुमने यह क्या किया ?" —श्याम के पिता पंडित शम्भुदत्तजी ने क्रोध-कम्पित स्वर में पूछा।

"वही, जो मुझे करना चाहिए था।" —श्याम ने धीरे से जवाब दिया।

"तुम्हें वही करना चाहिए था" — शम्भुदत्त जी ने उसी तरह क्रुद्ध स्वर में प्रश्न किया—"जिससे कुल में दाग़ लगे, सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जाय ?

"मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया।

"अब और क्या करते ? चमार की बेटी तो ब्याह लाये !"

"अगर वह चमार की बेटी है — श्याम ने क्रोध से कहा —"तो मैं चाहता हूँ कि अपने ब्राह्मणत्व पर गर्व करनेवाले लोग अपने को मुझ से अलग रक्खें।

"ऐसा तो होगा ही"—शम्भुदत्तजी ने धमकी देते हुए कहा—"अगर तुम उसका परित्याग करके प्रायश्चित नहीं करते, तो तुम्हारे लिए इस घर में जगह नहीं है। इसे तुम अच्छी तरह समझ लेना।"

"मैंने इसे खूब अच्छी तरह समझ लिया है"—श्याम ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—"परित्याग करने के लिए मैंने उसका पाणिग्रहण नहीं किया है और न मैंने कोई पाप ही किया है, जिसके लिए प्रायश्चित्त करूँ। इस घर में जगह पाने के लिए मैं अपने विचार-स्वातन्त्र्य का वध नहीं कर सकता। न वह काम करते ही डर सकता हूँ, जिसका सम्बन्ध मेरे ही जीवन से है और जिसका महत्व समझने के लिए मैं स्वयं पर्याप्त हूँ।"

"तुमने विवाह के धार्मिक महत्व की अवहेलना की है"—पंडितजी ने डाँट कर कहा—"या तो इसका प्रायश्चित्त करो या मेरे सामने से हट जाओ।"

"मैं समझता हूँ"—श्याम ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"विवाह का धार्मिक या नैतिक महत्व परम्परागत की लीक पीटने से ही प्राप्त नहीं होता। जिन दो प्राणियों के संयोग से उनकी आत्मा का उत्थान न हो, उन्हें रीति के धागों से बाँध देना ही ब्याह नहीं है! शरीर का ब्याह नहीं होता, ब्याह होता है हृदय का—आत्मा का! यही

ब्याह का धार्मिक महत्त्व है, इसी से नैतिक महत्त्व की उपलब्धि हुआ करती है—और ऐसे ब्याह में जाति-वंश का प्रश्न अपना कोई स्थान नहीं रखता; स्थान रखने वाली मुख्य वस्तु होती है—दोनों हृदयों की अनुकूल अनुभूति ! अनुभूति की यही अनुकूलता दाम्पत्य जीवन के लिए उस स्वर्ग की सृष्टि करती है, जहाँ अशान्ति, अतृप्ति, अनुताप और अव्यवस्था है ही नहीं। मैंने यह ब्याह अपने विकास के लिए, अपना बहुत-कुछ बलिदान करके, किया है। यदि आप लोग समझते हैं कि मेरा यह काम प्रायश्चित्त के योग्य है, तो मैं आपको, आपके घर को और आप के समाज को प्रणाम करता हूँ।"

"तुम्हारे शब्दों में बल है"—पंडित शम्भुदत्तजी ने झुँझला कर कहा—"पर तुम बड़े भारी कुल-कलङ्क निकले ! मुझे कहीं का न छोड़ा ! जाओ, मेरे सामने से हट जाओ; तुम्हारे व्याख्यान का असर मेरे ऊपर नहीं होगा। जाओ, कोई दूसरी जगह ढूँढ़ो।"

"क्या यही आपका अन्तिम निर्णय है ?"

"अगर तुम मेरी बात नहीं मानते, तो मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं कर सकता।"

"अच्छी बात है—"कह कर श्याम तेज़ी के साथ वहाँ से चला गया और सीधे अपनी माता के पास पहुँचा।

"माँ !"—श्याम ने रुँधे हुए स्वर में कहा—"अब मैं जा रहा हूँ।"

"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी !"—कह कर माँ ने उसे छाती से लगा लिया।

"नहीं, माँ !"—श्याम ने रोते हुए कहा—"ऐसा न करो। मुझ भिखारी के साथ चल कर कहाँ रहोगी ? अपने ऊपर आए हुए कष्टों को तो मैं झेल लूँगा; पर अपनी आँखों से तुम्हारा वह करुण वेश न देख सकूँगा। मेरा कोई ठिकाना नहीं, कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ! तुम यहीं रहो। आशीर्वाद दो, माँ !"

"हाय ! बेटा" माँ ने रोते हुए कहा—"तुम इतने निर्मोही हो गए ? ब्याह के खातिर माँ-बाप घर-द्वार, समाज-नाता—सब छोड़ कर चले ? क्या तुम समझते हो कि यह तुमने अच्छा किया ? अगर समझते हो तो मुझे भी अपने साथ ले चलो। तुम्हारे बिना मैं यहाँ न रह सकूँगी।"

"तुम्हें मेरी खातिर यहीं रहना पड़ेगा माँ !"—श्याम ने बड़ी कातरता से कहा—"मैं जो कुछ कर रहा हूँ, इसके सिवा और कुछ कर ही नहीं सकता। इसे तुम चाहे अच्छा समझो या बुरा।"

"हाय !"—माँ ने माथा ठोक कर कहा—"तुम्हारे

बिना इस घर में कैसे रह सकूँगी बेटा ? किसके लिए उल्लास से पकवान बनाऊँगी ? किसको प्यार से खिलाऊँ-पिलाऊँगी ? किसके आने की राह देखा करूँगी ? अब 'माँ' कह कर कौन मेरे कलेजे को शीतल किया करेगा ? किसका मुँह देखकर मैं सब कुछ भूल जाया करूँगी ?"

"मैं तुम्हारे दर्शन कर जाया करूँगा माँ !"—कह कर वह बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगा।

इसी समय पंडित शम्भूदत्त जी भी वहाँ आ खड़े हुए। श्याम ने तेजी से प्रस्थान किया और उसकी माँ धड़ाम से वहीं गिर पड़ी !

४

सुधा का ब्याह समाप्त कराने के बाद ही कुसुम मुरझा गई। देखते ही देखते न जाने उसे क्या हो गया। ब्याह के दूसरे ही दिन ज्वर हो आया। लोगों ने समझा, हरारत का फल है। पर वह कुछ दूसरी ही चीज़ निकली। धीरे-धीरे ज्वर ने उसमें अपना घर बसा लिया। कभी आए, कभी चला जाय। महीने भर से अधिक हो गया, पर उसकी अवस्था न सुधरी ! कभी दिनभर खूब अच्छी तरह रहती तो रात में नहीं, और कभी रात भर चैन से सोती तो सारा दिन बुखार की बेचैनी में बीतता।

"तुम्हें हो क्या गया कुसुम ?"—सुधा ने एक दिन बड़ी कातरता से पूछा।

"होगा क्या, पगली !'—अपनी व्यथा को मुसकराहट के नीचे दबाती हुई वह बोली—"शरीर ही तो है ? कुछ थोड़ा सा इधर-उधर हुआ और बीमारी घुस आई।"

"नहीं बहन !"—कुसुम के कन्धे पर अपना सिर रखते हुए सुधा बहुत ही आर्द्र होकर बोली—"तुम्हारी इस बीमारी का कारण मैं ही हूँ। तुम मेरे ही लिए आज इस हालत में हो।"

कुसुम ने उसे खींच कर अपनी छाती से लगा लिया और आँखों में आँसू भर कर कहा—ऐसा न कहो बहन ! भला तुम्हारे कारण मेरी यह हालत क्यों होगी ? यह तो अपने करम का फल है।

"मैंने तुम्हारा सब कुछ छीन लिया कुसुम !"—सुधा ने रोते हुए कहा।

"ऐसा तुम कभी न समझना सुधा !" कुसुम ने उसके आँसू पोंछते हुए अपनी वाणी कँपा कर कहा—"मैंने जो कुछ तुम्हें दिया है, वह असल में तुम्हारा ही था; मैं भूल से उसे अपना समझे बैठी थी, वास्तव में उसके योग्य न थी। हाँ, मुझे थोड़ा सा अधिकार दे दिया गया था।

हर्ष की बात है कि मैं उसे अच्छी तरह काम में ला सकी, उसे मैंने तुम्हारे प्यार के हवाले किया। यह मेरा आत्म-त्याग नहीं था बहन! कर्त्तव्य के नाते ही मैं ऐसा कर सकी। आह! तुम रो क्यों रही हो। ? चुप रहो। मेरी चिन्ता में अपने स्वास्थ्य का सर्वनाश न करो बहन! चुप रहो, तुम्हें मेरे सिर की क़सम!"

"कैसे चुप रहूँ कुसुम!"—सुधा ने उसी तरह रोकर कहा—"कलेजे में जैसे कोई रह-रह कर तीर चुभो रहा है। मैं नहीं जानती थी; मेरे कारण तुम अपने को इस तरह मिटा दोगी। हाय! उस दिन मैं अपनी व्यथा को छिपा नहीं सकी, उसी का यह दण्ड है—बड़ा ही कठोर दण्ड है, जिसे मैं सह न सकूँगी।"

दोनों सखियाँ गले से लिपट कर रो ही रही थीं कि सहसा लल्लन उनके आगे आ खड़ा हुआ। वह बहुत ही मुरझाया हुआ था।

कुसुम ने पूछा—"यह क्या भैया?"

लल्लन ने कहा—"तुम्हें देखने आ गया। वहाँ अब अकेले जी नहीं लगता।"

"अकेले?"—कुसुम ने घबड़ा कर पूछा—"और श्याम बाबू कहाँ हैं?"

लल्लन चुप रहा।

"वे वहाँ नहीं हैं ?"—कुसुम ने पूछा।

"नहीं"—लल्लन ने सिर हिला दिया।

"तब कहाँ हैं ? घर पर ?"—कुसुम ने आशङ्का के साथ पूछा।

"उसके बाप ने उसे घर से निकाल दिया"—लल्लन ने कहा।

सुधा सिर से पैर तक काँप उठी। उसका मुख-मण्डल विवर्ण हो गया। उसने काँपते हुए स्वर में पूछा—मुझसे दिल्लगी तो नहीं कर रहे हो भैया ?

"नहीं, बहन !"—लल्लन ने व्यथित होकर उत्तर दिया—"यह सच्ची बात है। उसने लिखना-पढ़ना भी छोड़ दिया।"

"और गये कहाँ ?"—कुसुम ने व्यग्रता के साथ प्रश्न किया। सुधा की वाणी अन्तस्तल के आवेग में बह गई। वह प्राणहीन पत्थर की प्रतिमा बन गई।

"न जानें परसों सवेरे ही कहाँ चला गया ?"—लल्लन ने कहा—"मैं लॉ-कालेज गया हुआ था। लौट कर आया तो उसका एक पत्र टेबुल पर पड़ा पाया।"

"उसमें कुछ लिखा नहीं था कि कहाँ जा रहे हैं ?"—कुसुम ने पूछा।

"उसमें इतना ही लिखा था"—लल्लन ने पत्र खोलकर

पढ़ सुनाया—"मैं अपनी जीविका के प्रश्न से अस्थिर हो उठा हूँ। कमाने-खाने का कोई प्रबन्ध करना पड़ेगा। नौकरी न मिलेगी, तो मजदूरी करूँगा। कुसुम से कह देना, वह सुधा को समझाती-बुझाती रहे। मैं कहाँ जा रहा हूँ, न बताऊँगा। यह भी सम्भव है कि कुछ दिनों तक किसी को पत्र भी न लिखूँ। घबराने की जरूरत नहीं, सुधा तब तक शान्ति और धैर्य के साथ अपने पिता के घर रहे—कुछ दिनों के लिए मुझे बिलकुल भूल जाय।"

सुधा मूर्छित होकर गिर पड़ी। कुसुम ने हड़बड़ा कर कहा—"भैया, पानी ले आओ।"

"तुम्हारा हृदय बड़ा ही दुर्बल है सुधा!"—उसे होश में लाने के बाद कुसुम ने कहा—"वे तो मर्द की तरह अपने जीवन की लड़ाई में गये हैं और तुम इतनी दुर्बलता दिखा रही हो?"

"हाँ, बहन—!" सुधा ने एक आह खींच कर जवाब दिया।

"नहीं, तुम्हें धीरज न छोड़ना चाहिए।"

"सुधा तब तक शान्ति और धैर्य के साथ अपने पिता के घर रहे—कुछ दिनों के लिए मुझे बिलकुल भूल जाय!"—सुधा ने बड़ी कातरता से कुसुम की ओर देख कर कहा—"क्यों बहन? यही बात तुम भी कह रही

हो न ? हाय ! सुधा के पति दर-दर ठोकरें खाते फिरें और सुधा चैन से बाप के घर रहे ! कितनी कड़ी यातना है, कैसा असह्य दण्ड है !"

कुसुम इसका उत्तर न दे सकी। उसकी आँखों से आँसू की धारा बह चली।

सुधा ने फिर कहा—"बहन ! उनका पता लगाना होगा। जहाँ वे रहेंगे, वहीं मैं भी रहूँगी। उनके सुख-दुःख में हिस्सा बँटाना ही मेरा काम है। मैं उनके बिना कहीं भी नहीं रह सकती।"

"यह तो ठीक है बहन !"—कुसुम ने अपनी आँखें पोंछ कर कहा—"पर उनका पता कहाँ जाकर लगाओगी ? भले घर की बहू-बेटी होकर तुम कहाँ-कहाँ भटकती फिरोगी ?"

"तब मैं क्या करूँ बहन ?"—सुधा ने जैसे उपाय की भीख माँगते हुए पूछा—"मेरा तो एक-एक पल बुरी तरह बीत रहा है !"

"तपस्या करो"—कुसुम ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"तुम नहीं जानती हो, स्वयं मेरे ऊपर इस समय क्या बीत रहा है। पर मैं तो अब दो ही च दिनों......।"

कुसुम की वाणी सहसा ह जोर-जोर से खाँसने लगी।

सुधा ने घबराहट के साथ कहा—"तुम यह क्या कर रही हो कुसुम ? अरे ! तुम्हें हो क्या गया ?"

शरीर छूकर देखा, वह तवे की तरह जल रहा था। सुधा ने कहा—"चलो, बिस्तर पर चल कर लेट रहो।"

"लिटा दो बहन !"—कुसुम ने बड़े कष्ट से कहा "देखना, कष्टों से घबराना मत। उनके जीवन को केवल तुम्हीं से सुख की आशा है। उन्हें कभी निराश मत करना।"

"तुम इस तरह क्यों बोल रही हो कुसुम ?"—उसे बिस्तर पर लिटाते हुए सुधा ने पूछा।

"अब मैं बचूँगी नहीं सुधा !"

"छिः ! यही सोचा करती हो ?"

"सच कहती हूँ।"

"छिः !"

"भैया को बुला दो......!"...कुसुम ने बड़े ज़ोर से खाँसा, मुँह से बलबला कर खून निकल पड़ा !!

"माँ"—कह कर कुसुम फिर खाँसने लगी। फिर वही खून !

माँ दौड़ी आई, भैया दौड़े आए। कुसुम की आँखें तन गईं,—समूचा शरीर रक्त-शून्य हो गया।

"भैया ! माँ !"—कुसुम ने बड़े कष्ट से सुधा की ओर देख कर कहा—"सुधा को, उनको...।"

इसके आगे वह कुछ न बोल सकी। सब लोग छाती पीट-पीट कर रोने लगे।

उस समय तो नहीं, पर उसी रात को करीब साढ़े तीन बजे सुधा की सखी सुरधाम चली गई !

५

हावड़ा स्टेशन पर देहली एक्सप्रेस लगी हुई थी। दूसरे दर्जे का एक यात्री "जल्दी करो—देखो, कोई चीज़ छूटने न पावे", कह-कह कर एक कुली को परेशान कर रहा था। उसी जल्दी में, गाड़ी पर चढ़ाते समय, कुली के सिर पर से काठ का एक छोटा सा सन्दूक गिर पड़ा। दुर्भाग्य से वह उसी मिट्टी के घड़े पर गिरा, जिसमें रस-गुल्ले भरे हुए थे। घड़ा चूर-चूर हो गया। फिर क्या था ? उस भले-मानस ने बेचारे कुली के ऊपर तड़ातड़ बेंत चलाना शुरू कर दिया। बेचारा कुली 'बाप रे, माई रे !' कह कर चिल्ला उठा। वह यात्री के पैरों पर लोट गया और बोला—"आज ही बुख़ार से उठा हूँ बाबूजी ! खाने को कुछ नहीं था, इसीलिए कमाने आया। कमज़ोरी के कारण ज़रा हिल गया। सिर का बोझ सँभला नहीं। माफ़ कीजिए। गरीब मर जायगा हुज़ूर !"

मगर हुज़ूर का गुस्सा कम न हुआ। रसगुल्ले के वियोग ने उन्हें आपे से बाहर कर दिया था। उन्होंने

खींच कर बेंत चलाना चाहा ही था कि इसी समय दौड़ कर एक युवती ने उनका हाथ थाम लिया और धिक्कार भरे स्वर में कहा—"छिः ! थोड़े से रसगुल्लों के लिए मनुष्यता की हत्या कर रहे हैं आप ?"

गाड़ी ने सीटी दी। वह सज्जन झल्ला कर कुली के आगे दो आने पैसे फेंकते हुए गाड़ी में जा बैठे।

कुली युवती की ओर देखते ही चिल्ला उठा—"सुधा ! यह क्या ?"

"सपना नहीं, मेरे स्वामी !"—युवती ने उसे गले लगा कर कहा—"जीवन का कठोर सत्य। हाय ! यह सब मेरे ही पापों का फल है।"

"चलो सुधा !"—कुली ने गर्व के, उल्लास के, आनन्द के आँसू बहाते हुए वेदना-विद्ध वाणी में कहा—"आज मैं कुली बन कर भी सम्राट् हूँ।"

दोनों एक कच्चे मकान में पहुँचे। सुधा ने कहा—"चलो, घर लौट चलो। आह ! तुमने अपने को क्या से क्या बना दिया ?"

श्याम ने कहा—"घर है ही कहाँ, जो मैं लौट चलूँ ? क्या तुम नहीं जानती हो कि मैं घर से निकाल दिया गया हूँ ?"

"चलो, मैं उन लोगों के पैरों पड़ूँगी, उन्हें जैसे होगा मनाऊँगी।"

"तो तुम जाओ, मैं ऐसा नहीं कर सकता।"

"मुझसे तुम्हारी यह दशा न देखी जायगी प्रियतम !"

"इसीलिए तो मैं कह रहा हूँ प्रिये !"—श्याम ने विह्वल होकर कहा—"तुम अपने घर में जाकर रहो मैं अपने कष्टों का कोई हिस्सेदार नहीं चाहता; इन्हें मैं अकेला झेलूँगा।"

"इतने कठोर न बन जाओ मेरे स्वामी !"—सुधा ने रुँधे हुए स्वर में कहा—"तुम जहाँ रहोगे, मैं भी वहीं रहूँगी। महीने भर से तुम्हारी खोज में थी। बड़े भाग्य से आज तपस्या सफल हुई है। मैं तुम्हारे आत्म-सम्मान की उपासिका हूँ। मरते दम तक तुम्हारे ही साथ रहूँ, यही मेरी सब से बड़ी कामना है।"

सुधा को गले लगाकर श्याम ने गद्‌गद् स्वर में पूछा—"इन कष्टों को तुम झेल सकोगी ?"

"जिन कष्टों को तुम झेल सकते हो—सुधा ने गर्व के साथ उत्तर दिया—"उन्हें तुम्हारी सहधर्मिणी भी झेल सकती है। अगर वह ऐसा न कर सके, तो उसे आत्म-हत्या कर लेनी चाहिए।"

"सुखों में पली हुइ मेरी रानी !"—श्याम ने अत्यन्त विह्वल होकर कहा—"तुम्हें मैं मजदूरिन के रूप

मैं कैसे देख सकूगा ? कैसे देख सकूँगा—तुम्हारे फटे-पुराने कपड़े ? कैसे देख सकूँगा—तुम्हारे रूखे केश ? कैसे देख सकूँगा—तुम्हारा वह मुरझाया हुआ मुखड़ा, जिसे दीनता सौन्दर्यहीन बना देती है ?"

"नहीं, मेरे स्वामी !"—सुधा ने आँसुओं का वेग सँभालते हुए कहा—"मैं अपने मुखड़े को न मुरझाने दूँगी। तुम इस पर सदैव मुसकराहट देखोगे। मैं इन कष्टों को कष्ट न समझूँगी। तुम्हीं मेरे सब कुछ हो। तुम्हें पाकर मैं कष्टों का अनुभव कर ही नहीं सकती ! आशीर्वाद दो, तुम्हारे योग्य बन सकूँ। मैं नारी हूँ, अबला हूँ, मेरी दुर्बलताओं को, मेरे अनजान अपराधों को ध्यान में न लाना।"

श्याम के ऊपर मानों नशा छा गया। मुग्ध-भाव से वह अपनी जीवनेश्वरी की गोद में गिर पड़ा !!

६

सायङ्काल का समय था। काम से लौट कर श्याम ने अपनी कुटिया में क़दम रखते ही देखा, उसकी सहधर्मिणी बुखार में बेसुध पड़ी है। दिन भर सड़क पर पत्थर तोड़ कर खून और पसीने को एक कर, जो थोड़े से पैसे मिले थे, उनसे वह कुछ खाने-पीने की चीजें ख़रीद लाया था—बड़े उमंग से, कि घर पहुँच कर दोनों प्राणी

प्रेम से भोजन करेंगे। वह मुझे खिलाएगी, मैं उसे खिलाऊँगा। मैं कहूँगा, अब भूख नहीं है, नहीं खाऊँगा। वह ज़बर्दस्ती मेरे मुँह में डाल देगी। मैं ऐसा ही करूँगा, बड़ा मज़ा रहेगा। सारी थकावट—सारी श्रम-वेदना दूर हो जायगी। पर हाय! घर में प्रवेश करते ही उसकी सारी उमङ्गें चूर-चूर हो गईं! सारे अरमान बिखर गए! फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटी हुई अपनी प्रियतमा के पास पहुँच कर उसने बड़ी विह्वलता से पुकारा—"सुधा!"

सुधा ने आँखें खोल दीं। बहुत ही क्षीण स्वर में उसने कहा—"घबराने की जरूरत नहीं।"

श्याम की आँखों से अविरल अश्रु-धारा बह चली।

सुधा ने फिर बड़े कष्ट से कहा—"रोओ नहीं, तुम्हें मेरी क़सम।"

श्याम आँसू पीता हुआ बोला—"तुम काँप रही हो, जाड़ा मालूम पड़ता है?"

"नहीं"—सुधा ने कहा—"इन बातों की चिन्ता मत करो।"

श्याम के पास ओढ़ने को एक फटा-पुराना कम्बल था। उसीसे उसने सुधा को ढक दिया।

सुधा बोली—"यह क्या करते हो? तुम क्या ओढ़ोगे? उफ़!"

श्याम ने इसका कोई उत्तर न देकर पूछा—कहीं पीड़ा तो नहीं होती है ?

"नहीं"—कह कर सुधा ने बड़ी बेचैनी के साथ करवट बदली।

श्याम चुपचाप उसके सिर पर हाथ फेरने लगा। उसका हृदय उमड़ रहा था; पर वह सावधान था कि कहीं आँसू की बूँदें सुधा के ऊपर न गिर पड़ें।

इसी समय वहाँ एक और आदमी आ पहुँचा। आते ही वह बोल उठा—"श्याम !"

"लल्लन !"—कह कर श्याम उसकी छाती से चिपक गया। दोनों फूट-फूट कर रोने लगे।

श्याम ने कहा—"कुसुम की मृत्यु का कारण मैं ही हूँ लल्लन ! मुझे क्षमा करो।"

"इसे अब भूल जाओ श्याम !"—लल्लन ने सान्त्वना के स्वर में कहा—"यह बताओ, सुधा का क्या हाल है ?

इसी बीच में सुधा बड़े कष्ट से उठ बैठी थी। वह लल्लन भैया के मुँह से अपना नाम सुनते ही गला फाड़ कर रोने लगी।

"तुम कब से बीमार हो सुधा ?"—लल्लन से चुप कराते हुए पूछा।

"आज ही जरा बुखार आ गया है भैया !"—सुधा ने कुछ-कुछ सिसकते हुए जवाब दिया—आप लोग तो अच्छी तरह हैं ?"

लल्लन ने कहा—"तुम लोगों को मेरे साथ वापस चलना होगा सुधा ! अब इस हालत में नहीं रहने दूँगा ।"

श्याम ने कहा—"कहाँ ले जाओगे लल्लन ? हमारे लिए दुनियाँ में और जगह ही कहाँ है ?"

लल्लन ने जेब से एक काग़ज़ निकाल कर श्याम के हाथों में देते हुए कहा—"इसे पढ़ लो । कुसुम अपने सब रुपए तुम्हें दे गई है । बैंक में उसके नाम तीन हज़ार रुपए जमा हैं । मरने के पहले ही वह अपने सन्दूक में यह क़ाग़ज़ रख गई थी । माँ ने देखा, तो कहा कि थोड़े से और रुपए लगा कर कुसुम की स्मृति में एक प्रेस खोल दिया जाय और उसी में हम तुम दोनों जनें मिलकर काम करें । माँ तुम दोनों के लिए रात-दिन बेचैन रहती हैं । मैं अपना अनुरोध मानने को नहीं कहता, पर उनके ऊपर दया करना तुम्हारा धर्म है ।"

इतना कहते हुए लल्लन का स्वर आँसुओं से उलझ गया । श्याम चुप था ।

लल्लन ने फिर कहा—"श्याम ! मेरे भाग्य में यह भी लिखा था कि कभी तुम दोनों को इस अवस्था में

देखूँ ? हाय ! जिस पढ़े-लिखे नवयुवक को आज कुरसी पर बैठना चाहिए था, वही मज़दूर का जीवन बिता रहा है ! जिसे रानी की तरह समय बिताना चाहिए था, वह आज भिखारिन के वेश में, फटे-पुराने चिथड़ों से लिपटी हुई कराह रही है ! विधाता ! तेरी क्रीड़ा भी कितनी करुण, कितनी निष्ठुर है ? मगर अब नहीं; अब क्षण भर भी यह दृश्य नहीं देख सकता श्याम ! चलो, इसी समय यहाँ से चले चलो। चलो, सुधा को गाड़ी में बैठाओ, वह इसी जगह गली में खड़ी है।"

श्याम ने गद्गद होकर कहा—"ललन !"

ललन ने कहा—"नहीं, अब कुछ मत कहो। सुधा ! चलो बहन, उठो। आह ! तुम लोगों को ढूँढ़ निकालने में कष्ट हुआ है ! अब उसे दूर कर दो, चलो !"

देखते ही देखते मज़दूर की वह वैभवहीन झोपड़ी सूनी हो गई। तीनों गाड़ी में जा बैठे !!

७

काशी का 'कुसुम-प्रेस' खूब फूला फला। वहाँ से, श्याम के सम्पादकत्व में निकलने वाले 'कुसुम' नामक मासिक पत्र की साहित्यिक दुनियाँ में धूम मच गई। श्याम जनता की आँखों का तारा बन गया, युवकों का दुलारा ! उसकी कष्ट-सहिष्णुता, परिश्रम-प्रियता, त्याग

और तपस्या लोक-सम्मान की वस्तुएँ थीं। उसके पास कवि का हृदय था, नारी-सुलभ सहृदयता थी, वीरों की बाहुएँ थीं, सैनिकों-जैसा संयम था। वह था अपने सिद्धान्तों का पक्का, अपने कर्त्तव्य का पुजारी, आत्म-सम्मान का संरक्षक, आत्म-निर्भरता का अवतार!

एक दिन उसके मन में आया, अब माँ से एक बार मिल आना चाहिए।

इतनी ही स्मृति पर्याप्त थी। वह अपने कमरे में अकेला ही था। फूट-फूट कर रोने लगा।

लल्लन हड़बड़ा कर कमरे में घुस आया और बोला—"क्या हुआ भाई!"

"अपनी माँ की याद हो आई।"—श्याम ने रोना बन्द करने की चेष्टा करते हुए कहा।

"ठीक तो है।"—लल्लन ने कहा—"इतने दिनों से तुमने उनकी कोई खोज-खबर न ली, अब तो एकाध दिन हो आओ। आना चाहें तो उन्हें लिवाते भी लाना।"

उसी रात को श्याम भागलपुर के लिए रवाना हो गया।

८

स्टेशन से उतर कर जब वह अपने गाँव की ओर चला, तो उसका हृदय एकदम अशान्त हो उठा। जैसे-

जैसे वह गाँव के पास पहुँचता जाता था, वैसे ही वैसे उसके कलेजे की धड़कन बढ़ती जाती थी। पूरे दो वर्षों के बाद आज वह अपनी माँ के पास जा रहा था। अपने निर्वासन का कष्टमय जीवन समाप्त करके, इतने दिनों बाद आज वह जा रहा था, उसी स्थान पर अपनी माँ के चरणों पर लोटने, जहाँ एक दिन वह उसे बेहोश छोड़ आया था। हाय! कितनी करुणापूर्ण परिस्थिति थी! श्याम के हृदय में कोमल और करुण भावनाओं की लहरें उमड़ आईं। आँखें पोंछते हुए उसने गाँव में प्रवेश किया।

पर यह क्या? समूचा गाँव श्मशान-सा क्यों मालूम पड़ रहा है? इतने बड़े गाँव में यह भावपूर्ण निस्तब्धता कैसी? अरे! एक ही साथ इतनी रोने की आवाजें कहाँ से आ रही हैं? अज्ञात आशङ्का से श्याम एकदम काँप उठा। इसी समय उसने देखा, सामने से कुछ लोग एक लाश लिये आ रहे हैं।

वह दौड़ कर उन लोगों के पास पहुँच गया और बोल उठा—"गाँव की यह कैसी हालत हो रही है?"

उत्तर मिला—"जाओ भैया! दौड़कर जाओ, तुम्हारे बाप भी मर रहे हैं।"

"एं!"—श्याम ने स्तब्ध होकर पूछा।

"हाँ, भैया!"—उनमें से एक ने कहा—"आज

महीने भर से गाँव को हैजे की आग जला रही है, मालूम होता है, सबको राख बना कर यह आग बुझेगी। भगवान् की मर्ज़ी! जाओ भैया! जल्दी घर जाओ।"

श्याम दौड़ता हुआ अपने आँगन में पहुँचा और भराई आवज़ में चिल्ला उठा—"माँ!"

कोई उत्तर न मिला।

उसने घबराई हुई आखों से एक बार चारों ओर देख कर फिर उसी तरह पुकारा—"माँ!"

इस बार उसकी बूढ़ी दासी 'वालो' घर से बाहर निकल आई और रोती हुई बोली—"बहुत देर करके आए बेटा! अब 'माँ' कहाँ पाओगे?"

"वालो!"—उस बूढ़ी दासी के पास पहुँच कर वह बोला—"तो क्या मेरी माँ अब नहीं है?

श्याम को छाती से लगा कर उस रोती हुई बुढ़िया ने कहा—"नहीं बेटा! तुम्हारे घर छोड़ने ने बाद वह फिर नहीं उठीं। साल भर तुम्हारा नाम रट-रट कर किसी तरह इस इस आशा से जीती रहीं कि शायद तुम लौट आओ। पर तुम न आए। गृहस्थी का सारा भार मुझ अभागिनी पर छोड़ कर वह हमारे बीच से भाग गईं। अब उन्हें कहाँ पा सकोगे बेटा?

"और बाबूजी का क्या हाल है बालो !" श्याम ने रोते-ही-रोते बड़ी विह्वलता से पूछा।

"आह !" बालो ने उत्तर दिया—"वे भी तो अब घड़ी-पहर के ही मेहमान हैं ! आज सबेरे से हैज़े ने पकड़ा है। तभी से तुम्हारा ही नाम रट रहे हैं !"

"चलो, मुझे उनके पास ले चलो"—कह कर श्याम रोता-चिल्लाता अपने बाप के कमरे की ओर बढ़ा।

पंडित शम्भुदत्त जी बहुत ही बेचैन होकर तड़प रहे थे। बालो ने पास पहुँच कर आर्द्र-स्वर में कहा—"बच्चा जी आ गए। देखिए, आपके पास खड़े हैं।"

"कौन ?"—रोगी ने करवट बदलते हुए करुण-स्वर में कहा—"श्याम ? मेरा बेटा ? कहाँ है। आह ! उफ़ ! बेटा !.......!"

श्याम बाप को पकड़ कर बड़े ज़ोर से रोने लगा।

बालो ने उसे खींच कर अलग कर लिया और रोकर कहा—"आज सबेरे ही से यही रट लगाए थे कि मरते समय मुझे पानी कौन पिलाएगा ? मेरा दाह-कर्म कौन करेगा ? मुझे मुकती (मुक्ति) कैसे मिलेगी ? अपने बेटे को कैसे बुलाऊँ ?"

श्याम ने बड़ी ही आर्द्र वाणी में पुकारा—"बाबूजी !"

रोगी ने बड़े कष्ट से कहा—"बेटा !"

"कुछ चाहिए ? —श्याम ने रोते हुए पूछा।

"तु...म्हा...रे...हाथों....से...एक...बूँद...पानी" रोगी ने हाँफते हुए कहा—"बे...टा ! मु......झे...... मा...फ़...!

श्याम ने पिता के मुँह में गङ्गा-जल की कुछ बूँदें डाल दीं और फिर पुकारा—"बाबू जी !"

रोगी को मानों कुछ शक्ति प्राप्त हो गई। उसने धीरे से अस्पष्ट शब्दों में कहा—"बेटा ! तुमसे मोक्ष की भीख माँगता हूँ...थोड़ा सा पानी और...उफ़ !

उनके मुँह में थोड़ा सा गङ्गा-जल और डाल दिया गया।

इस बार रोगी ने अपने दोनों हाथों को बढ़ा कर इस बात का इशारा किया कि वह एक बार अपने पुत्र को छाती से लगा ले। श्याम ने घुटने टेक बाप की छाती पर सिर रख दिया।

"मैं....त...र...ग....या....बे....टा..... !"— कह कर रोगी ने तीन-चार हिचकियाँ लीं और बुढ़िया वाली श्याम को खींच कर अपनी छाती से लगा कर रोने लगी।

"हाय ! मेरी माँ भी इसी तरह 'मोक्ष की भिक्षा' माँगते-माँगते मरी होगी !"—कह कर श्याम पागलों की तरह सिर धुनने लगा !!

श्रीयुक्ता सुभद्राकुमारी चौहान

श्रीमतीजी का जन्म श्रावण शुक्ला ५ सं० १९६१ को प्रयाग में हुआ। इन्होंने प्रयाग के क्रास्थवेट स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। सं० १९७९ में इनका विवाह खंडवा-निवासी ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान बी० ए०, एल० एल० बी० के साथ हुआ। इन्होंने कलकत्ता कांग्रेस में असहयोग का प्रस्ताव पास होने पर स्कूल छोड़ दिया। ये सुकवि हैं और स्त्रीकवियों में इनका स्थान सब से ऊँचा है। इनको 'मुकुल' नामक कविता-संग्रह पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग की ओर से ५००) रु० का पारितोपिक मिल चुका है।

कुछ दिन से ये गल्प भी लिखने लगी हैं। 'बिखरे-मोती' नाम से इनकी कहानियों का एक संग्रह छप चुका है। इस संग्रह पर आपको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग से ५००) रु० इनाम मिला है। इनकी भाषा परिमार्जित और भाव ऊँचे दर्जे के होते हैं।
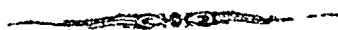
अभियुक्ता

१

मजिस्ट्रेट मिस्टर मिश्रा की अदालत में आजकल एक बड़ा ही सनसनीदार मुकद्दमा चल रहा है। अदालत में खूब भीड़ रहती है। मामला एक बीस बरस की युवती का है, जिस पर बैरिस्टर गुप्ता के लड़के के गले से सोने की जंजीर चुराने का अपराध लगाया गया है। एक तो वैसे ही किसी स्त्री के अदालत में आते ही न जाने कहाँ से अदालत के आस-पास मनुष्यों की भीड़ लग जाती है, और यदि कहीं स्त्री सुन्दर हुई, फिर तो भीड़ के विषय में कहना ही क्या है। आदमी इस तरह टूटते हैं जैसे उन्होंने कभी कोई स्त्री देखी ही न हो। इसके अतिरिक्त मजेदार बात यह भी थी कि बैरिस्टर गुप्ता स्वयं इस मामले में गवाही देने को अदालत में आये थे।

बैरिस्टर गुप्ता शहर के मशहूर बैरिस्टर हैं। शहर का बच्चा-बच्चा उन्हें जानता है। सरकारी अफ़सर उनके घर जुआ खेलते हैं, और शहर में कहीं नाच-गाना हो तो उसका प्रबन्ध बैरिस्टर साहब को ही सौंपा जाता है। शराब पीने का शौक़ होते हुए भी वह कलारी के यहाँ कभी नहीं जाते। कलारी स्वयं, उनके वहाँ पहुँच जाता है। सरकार-दरबार में उनका बहुत मान है, और पबलिक में भी; क्योंकि सरकारी अफसरों से किसका काम नहीं पड़ता। जहाँ किसी का अटका कि दौड़ गये बैरिस्टर गुप्ता के पास। बैरिस्टर साहब हैं भी बड़े मिलनसार। पबलिक का काम बड़ी दिलचस्पी से करते हैं। इस प्रकार के कामों में वह बहुत व्यस्त रहते हैं, और दूसरे कामों के लिए उन्हें फ़ुरसत ही नहीं रहती।

मुक़दमा शुरू हुआ। अभियुक्ता की ओर से कोई वकील न था। वह गरीब और असहाय थी। सरकार की ओर से ३००) मासिक पाने वाले कोर्ट साहब पैरवी के लिए खड़े थे।

बैरिस्टर गुप्ता ने अपने बयान में कहा—"मैं अभियुक्ता को एक अरसे से जानता हूँ। यह शहर में भीख माँगा करती थी। करीब एक महीना हुआ, एक दिन अपने मकान के पास कुछ गुण्डों को इसे छेड़ते देखा।

मुझे इस पर दया आयी। उन गुण्डों को भगा कर मैं इसे अपने घर ले आया। और जब मुझे मालूम हुआ कि इसका कोई भी नहीं है, तब खाने और कपड़े पर इसे अपने घर पर बच्चों के सँभालने के लिए रख लिया। १५ दिन काम करने के बाद एक दिन रात को यह एकाएक ग़ायब हो गई। दूसरे दिन मैंने देखा कि बच्चे के गले की सोने की जंजीर भी नहीं है। तब मैंने पुलिस में इत्तिला दी। बाद में पुलिस ने इसे मय सोने की चेन के गिरफ्तार किया, और मुझसे चेन की शिनाख्त करवाई। मैंने वैसे ही पाँच चेनों में से अपनी चेन पहचान ली। (अदालत की टेबिल पर रखी हुई चेन को हाथ में लेकर बैरिस्टर गुप्ता ने कहा) यह चेन मेरी है, मैंने खुद इसे बनवाया था।

बैरिस्टर गुप्ता का बयान खतम हुआ। मजिस्ट्रेट ने गम्भीर स्वर में अभियुक्ता की ओर देखकर पूछा—"तुम को बेरिस्टर साहब से कुछ सवाल करना है?"

अभियुक्ता का चेहरा तमतमा उठा। वह तिरस्कार सूचक स्वर में बोली—"जी नहीं, सवाल पूछना तो दूर की बात है, मैं तो इनका मुँह भी नहीं देखना चाहती।"

अभियुक्ता की इस निर्भीकता से दर्शकों के ऊपर आश्चर्य की लहर सी दौड़ गयी, सब की आँखें उसकी ओर

फिर गयीं, और वैरिस्टर गुप्ता की ओर भी लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। उनके मुँह से एक प्रकार की दबी हुई अव्यक्त मर-मर ध्वनि-सी निकल पड़ी।

मुकदमे में और भी रंग आ गया। अब तो लोग और भी ध्यान से मुकदमे की कार्रवाई को सुनने लगे।

वैरिस्टर गुप्ता की बातों का समर्थन पुलिस के दूसरे गवाहों ने भी किया। एक सराफ़ ने आकर कहा—"मेरी दूकान से सोना लेकर वैरिस्टर साहब ने मेरे सामने ही यह चेन सुनार को बनाने के लिए दी थी।"

एक सुनार ने आकर बयान दिया—"यह चेन वैरिस्टर साहब के लिए मैंने ही अपने हाथ से बनाकर उन्हें दी थी।"

तफ़तीश करनेवाले थानेदार ने यह बतलाया कि किस प्रकार उन्होंने अभियुक्ता का पता लगाया, और किस तरह चेन माँगते ही उसने यह चेन अपनी कमर से निकाल कर दे दी। थानेदार ने यह भी कहा था कि अभियुक्ता ने इस चेन को अपनी माँ की दी हुई बतलाया है, जिससे साफ मालूम होता है कि अभियुक्ता बहुत चालाक है।

सरकारी गवाहों के बयान हो जाने के बाद अभियुक्ता से मजिस्ट्रेट ने पूछना शुरू किया—

"तुम्हारा नाम ?"

"चुन्नी।"

"पति का नाम ?"

"मै कुमारी हूँ।"

"अच्छा, तो पिता का नाम ?"

"मैं नहीं जानती। मैं जब बहुत छोटी थी तब या तो मेरे पिता मर गये थे या कहीं चले गये थे। मैंने उन्हें देखा ही नहीं। मेरी माँ ने मुझे कभी उनका नाम भी नहीं बताया। और अब तो कुछ दिन हुए मेरी माँ का भी देहान्त हो गया। कहते-कहते अभियुक्ता की आँखें डबडबा आयीं। वह दोनों हाथों से अपना मुँह ढककर सिसकियाँ लेने लगी। दर्शकों ने सहानुभूति-पूर्वक अभियुक्ता की ओर देखा, किन्तु कोर्ट इन्सपेक्टर ने कड़े स्वर में कहा—"यह नाटक यहाँ मत करो, जो कुछ साहब पूछते हैं उसका जवाब दो।"

अभियुक्ता ने अपने को सँभाला और आँखें पोंछ कर वह मजिस्ट्रेट की ओर देखने लगी।

मजिस्ट्रेट ने फिर पूछा—"तुम्हारा पेशा क्या है ?"

"मैं मज़दूरी करती हूँ और जब काम नहीं मिलता तब भीख माँगती हूँ"—अभियुक्ता ने कहा।

मजिस्ट्रेट ने फिर पूछा—"रहती कहाँ हो ?"

"जहाँ जगह मिल जाती है।"

"तुमने बैरिस्टर गुप्ता के घर नौकरी की थी ?"

"जी हाँ।"

"यह चेन तुमने उनके बच्चे के गले से चुरायी ?"—चेन को हाथ में लेकर मजिस्ट्रेट ने पूछा।

अभियुक्ता ने बैरिस्टर गुप्ता की ओर देखा। उसके चेहरे से घृणा और क्रोध टपक रहा था। फिर उसने मजिस्ट्रेट की ओर देखकर दृढ़ता से कहा—"मैंने जंजीर चुरायी नहीं, वह मेरी है।"

यह सुनते ही बैरिस्टर गुप्ता के मुँह से व्यंग्य-पूर्वक उपहास की दबी हुई हँसी निकल गयी। इस व्यंग्य से अभियुक्ता का चेहरा क्षोभ से और भी लाल हो उठा, उस ने किञ्चित् क्रोध के स्वर में कहा--"मैं फिर कहती हूँ कि जंजीर मेरी है। मेरी माँ ने मरते समय यह मुझे दी थी और यह भी कहा था कि यह तेरे पिता की यादगार है, इसे जतन से रखना।"

मजिस्ट्रेट ने पूछा—"तुम बैरिस्टर साहब के घर से रात को भाग गयी थीं ?"

कुछ क्षण के लिए अभियुक्ता चुप-सी होगयी ! आहत अपमान उसके चेहरे पर छा गया। फिर कुछ सोचकर वह गम्भीर स्वर में बोली—"जी हाँ, मैं बैरिस्टर

साहब के घर से भागी थी। पहले जब इन्होंने मुझे गुण्डों से बचाकर अपने घर में आश्रय दिया था, तब मेरे हृदय में इनके लिए श्रद्धा और कृतज्ञता के भाव थे। परन्तु वे धीरे-धीरे घृणा और तिरस्कार में बदल गये। मैंने देखा कि बैरिस्टर साहब की खुद की नीयत ठिकाने नहीं है और वह मुझे अपनी वासना का शिकार बनाने पर तुले हुए हैं। वह मुझे हर तरह का लालच दिखाने लगे और धमकियाँ देने लगे। एक दिन इसी तरह की छीना-झपटी में उन्होंने मेरी यह सोने की जंजीर देख ली थी। इसीलिए यह चोरी का झूठा इलजाम लगाने का इन्हें मौका मिला। मैं चोरी के डर के मारे कभी जंजीर को गले में नहीं पहनती थी। सदा कमर में खोंसे रहती थी।"

अभियुक्ता का बयान सुनते ही अदालत में सन्नाटा छा गया। किसी को भी उसके बयान में किसी तरह की बनावट न मालूम हुई। बैरिस्टर साहब के प्रति घृणा और अभियुक्ता की ओर सहानुभूति के भावों से दर्शक समाज का हृदय ओत-प्रोत हो गया। सभी दिल से चाहने लगे वह छूट जावे। परन्तु कानूनी कठिनाइयों को सोचकर सब निराश से हो गये। चेन उसकी होते हुए भी भला बेचारी इस बात का सबूत कहाँ से देगी कि चेन उसी की है!

२

सफाई की पेशी का दिन आया। आज तो अदालत में दर्शकों की अधिकता के कारण तिलभर भी जगह खाली न थी। प्रत्येक के चेहरे पर उत्सुकता छायी थी। कौन जाने क्या होता है! "बिचारी की चेन भी छिने, और जेल भी भेजी गई तो बड़ा बुरा होगा", "यह न्यायालय तो केवल न्याय के ढोंग के लिए ही होते हैं"; "न्याय के नाम से सरासर अन्याय होता है", अदालतें धनवानों की ही हैं, गरीबों की नहीं"; इस प्रकार की कानाफूसी विभिन्न दर्शकों के मुँह से सुनी जा रही थी। अन्त में मजिस्ट्रेट की आवाज़ से अदालत में निस्तब्धता छा गयी। उन्होंने अभियुक्ता से पूछा—"तुम इस बात का सबूत दे सकती हो कि यह चेन तुम्हारी है?"

"जी हाँ।"

"क्या सबूत है? तुम्हारे कोई गवाह हैं?"

"मेरा सबूत और गवाह वही चेन है"—अभियुक्ता ने चेन की ओर इशारा करते हुए कहा।

सबने अविश्वास-सूचक सिर हिलाया। कुछ ने सोचा, शायद यह लड़की पागल हो गयी है।

मजिस्ट्रेट ने पूछा—"सो कैसे?"—अब उनकी दिलचस्पी और बढ़ गयी थी।

"चेन मेरे हाथ में दीजिए, मैं आपको बतला दूँगी।"

मजिस्ट्रेट के इशारे से कोर्ट साहब ने चेन उठाकर अभियुक्ता के हाथ में दे दी। चेन दोलड़ी थी और उसके बीच में एक हृदय के आकार का छोटा-सा लाकेट लगा था, जो ऊपर से देखने में ठोस मालूम पड़ता था; किन्तु अभियुक्ता ने न जाने किस तरह दबाया कि वह खुल गया। उसे खोलकर उसने मजिस्ट्रेट साहब को दिखलाया, फिर बोली—

"यही मेरा सबूत है, यह मेरे पिता की तसवीर है।"

मजिस्ट्रेट ने उत्सुकता से वह लाकेट अपने हाथ में लेकर देखा—देखा और देखते ही रह गए। लाकेट के अन्दर एक २० वर्ष के युवक का फोटो था। मजिस्ट्रेट ने उसे देखा। उनकी दृष्टि के सामने से अतीत का एक धुँधला चित्रपट फिर गया।

बीस वर्ष पहले वह कालेज में बी० ए० फाइनल में पढ़ते थे। उनके मेस की महाराजिन बुढ़िया थी, इस लिए कभी-कभी उसकी नातिन भी रोटी बनाने आ जाया करती थी। उसका बनाया हुआ भोजन बहुत मधुर होता था। वह थी भी बड़ी हँसमुख और भोली। धीरे-धीरे वह उसे अच्छी-अच्छी चीजें देने लगे। छिप-छिपकर मिलना-जुलना भी प्रारम्भ हुआ। वह रात के समय बुढ़िया महाराजिन और उसकी नातिन को उसके घर तक

पहुँचाने भी जाने लगे। एक रात को वह लड़की अकेली थी। चाँदनी रात थी और वसन्ती हवा भी चल रही थी। घने वृक्षों के नीचे अन्धकार और चाँदनी के टुकड़े आँख-मिचौनी खेल रहे थे। वहीं कहीं एकान्तस्थान में उन्होंने अपने को खो दिया।

कालेज बन्द हुआ, और विदाई का समय आया। उस रोती हुई प्रेयसी को उन्होंने एक सोने की चेन मय फोटोवाले लाकेट के अपनी यादगार में दी। सिसकियों और हृदय-स्पन्दन के साथ बड़ी कठिनाई से वह विदा हुए। वह उनका अन्तिम मिलन था। उसके बाद वह उस कालेज में पढ़ने के लिए नहीं गये, क्योंकि वहाँ ला क्लास नहीं था। वह धीरे-धीरे उन सब बातों को उन्मत्त स्वप्न की तरह भूल गये। किन्तु आज इस लाकेट ने उन के उस प्रणय के परिणाम को उनके सामने प्रत्यक्ष खड़ा कर दिया। उन्होंने सोचा क्या यह मेरी ही........। इतने में लाकेट उनके हाथ से छूटकर टेबिल पर खट से गिर पड़ा, उसकी आवाज़ से वह चौंक-से पड़े। दर्शक भी चौंक उठे। मजिस्ट्रेट ने सिर नीचा किये हुए कहा—"अभियुक्ता निर्दोष है,उसे जाने दो"। यह कहते हुए वह तुरन्त उठकर खड़े हो गये, जैसे न्यायाधीश की कुरसी ने उन्हें काट खाया हो।

श्री जैनेन्द्रकुमार

श्री जैनेन्द्रकुमार दिल्ली-निवासी हैं। ये अभी युवक हैं, आयु कठिनता से २७-२८ वर्ष की होगी। गत चार-पाँच वर्षों से ये हिन्दी-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। परन्तु इस स्वल्पकाल में ही इनकी स्वाभाविक प्रतिभा तथा उच्च कोटि की गल्पों ने इन्हें बरबस उच्च-कोटि के गल्प और उपन्यास लेखकों की श्रेणी में बिठा दिया है। हाल ही में इनको अपने 'परख' नामक उपन्यास पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद से पाँच सौ रुपये का पारि-तोषिक मिला है।

इनकी भाषा सरल और परिमार्जित होती है, परन्तु जहाँ तहाँ देहलवीपन जरूर आ टपकता है, तिस पर भी भाषा की सुन्दरता नष्ट नहीं होती। इनकी कहानियों का कथानक बहुत चुस्त और उच्च भावों से ओतप्रोत होता है। इनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर दीन और पददलित समाज की कारुणिक अवस्था का साक्षात् जीवित चित्र-सा खिंच गया है, जिसको पढ़ते हुए करुणा का उद्रेक हुए बिना नहीं रह सकता। इन्होंने अभी थोड़ा ही लिखा है परन्तु जो कुछ लिखा है उसमें नवीनता ही दृष्टिगोचर होती है। आशा है निकट-भविष्य में ये हिन्दी-क्षेत्र में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लेंगे।

इनकी परख, फाँसी, वातायन आदि रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और हिन्दी जगत् ने इन्हें खूब अपनाया है।

अपना अपना भाग्य

१

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की एक बेंच पर बैठ गये।

नैनीताल की संध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रूई के रेशे-से, भाप-से, बादल हमारे सिरों को छू-छूकर बेरोक घूम रहे थे। हलके प्रकाश और अँधियारी से रँगकर कभी वे नीले दीखते, कभी सफ़ेद और फिर ज़रा देर में अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलोवाला मैदान फैला था। सामने अंग्रेज़ों का एक प्रमोद गृह था, जहाँ सुहावना-रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्व में था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किश्तियाँ अपने सफ़ेद पाल उड़ाती हुई एक-दो अंग्रेज़ यात्रियों को लेकर, इधर से उधर खेल रही थीं और कहीं कुछ अंग्रेज़ एक-एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर, अपनी सुई-सी शक्ल की डोंगियों को मानों शर्त बाँध-कर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी वंसी पानी में डाले सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉन में बच्चे किलकारियाँ भरते हुए हॉकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलौज भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उतने क्षणों का उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानों खतम कर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का ख़याल न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सचाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नरनारियों का अविरत प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था और कहाँ से आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उम्र के सब तरह के लोग उसमें थे। मानों मनुष्यता-के नमूनों का बाज़ार, सजकर, सामने से इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अँग्रेज़ उसमें थे, और चिथड़ों से सजे, घोड़ों की बाग थामे वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचल कर शून्य बना लिया था, और जो बड़ी तत्परता से दुम हिलाना सीख गये थे।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते, लाल-लाल अँग्रेज़ बच्चे थे और पीली-पीली आँखें फाड़े, पिताकी उँगली पकड़ कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे।

अँग्रेज़ पिता थे, जो अपने बच्चों के साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गी को अपने चारों तरफ लपेटे धन-सम्पन्नता के लक्षणों का प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे।

अँग्रेज़ रमणियाँ थीं, जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज़ चलती थीं। उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हँसने में लाज आती थी। कसरत के नाम पर घोड़ों पर भी बैठ सकती थीं, और घोड़े के साथ-ही-साथ, ज़रा जी होते ही, किसी हिन्दुस्तानी पर भी कोड़े फटकार सकती थीं। वह दो-दो, तीन-तीन, चार-चार की टोलियों में निश्शंक, निरापद, इस प्रवाह में मानों अपने स्थान को जानती हुई, सड़क पर से चली जा रही थीं।

उधर हमारी भारत की कुल-लक्ष्मियाँ, सड़क के बिलकुल किनारे-किनारे, दामन बचातीं और सम्हालती हुई,

साड़ी की कई तहों में सिमट-सिमटकर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्टनों में छिपाकर, सहमी-सहमी धरती में आँखें गाड़े, क़दम-क़दम बढ़ रही थीं।

२

घंटे के घंटे सरक गये। अंधकार गाढ़ा हो गया। बादल सफ़ेद होकर जम गये। मनुष्यों का यह ताँता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहीं-के-वहीं बैठे थे। सर्दी-सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गये थे।

पीछे फिरकर देखा। वह लॉन बर्फ़ की चादर की तरह बिलकुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।

सब सन्नाटा था। तल्लीताल की बिजली की रोशनियाँ दीपमालिका सी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले-हुए प्रकृति के जल-दर्पण पर प्रतिबिम्बित हो रही थी। और दर्पण का काँपता हुआ, लहरें लेता हुआ वह तल उन प्रतिबिम्बों को सौ-गुना—हज़ार-गुना करके, उनके प्रकाश को मानों एकत्र और पुंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ों के सिर पर की रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सब को ढक दिया। रोशनियाँ मानों मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले-काले भूत-से पहाड़ भी इस सफ़ेद पर्दे के पीछे छिप गये। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानों यह घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ इस घनी, गहरी सफ़ेदी में दब गया। जैसे एक शुभ्र महा-सागर ने फैलकर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर नीचे चारों तरफ़, वह निर्भेद्य, सफ़ेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिलकुल निर्जन, चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलों में जा छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्य में, कहीं से ग्यारह बार टन्-टन् हो उठा। जैसे कहीं दूर क़ब्र में से आवाज़ आ रही हो!

हम अपने-अपने होटलों के लिए चल दिये।

३

रास्ते में दो मित्रों का होटल मिला। दोनों वकील मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

ताल के किनारे-किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवरकोट तर हो गये थे। वारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ तो ऊपर-नीचे हवा के कण-कण में वारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा. कोट पर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता।

रास्ते में ताल के बिलकुल किनारे एक वेंच पड़ी थी। मैं जी में वेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँचकर, इन भीगे कपड़ों से छुट्टी पा, गरम विस्तर में छिपकर सो रहना चाहता था। पर साथ के मित्र की सनक कब उठेगी, और कब थमेगी—इसका क्या कुछ ठिकाना है! और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अंदाज़ है! उन्होंने कहा—"आओ, ज़रा यहाँ वैठें।"

हम उस चूते कुहरे में रात के ठीक एक वजे, तालाव के किनारे की उस भीगी, वर्फ़ीली, ठंढी हो रही लोहे की वेंच पर बैठ गये।

५—१०—१५ मिनट हो गये। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिझलाकर कहा—

"चलिए भी..."

"अरे, ज़रा वैठो भी..."

हाथ पकड़ कर ज़रा बैठने के लिए जव इस जोर से वैठा लिया गया, तो और चारा न रहा—लाचार वैठ

रहना पड़ा। सनक से छुटकारा आसान न था, और यह ज़रा बैठना भी ज़रा न था।

चुप-चुप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था कि मित्र अचानक बोले—

"देखो, वह क्या है ?"

मैंने देखा—कुहरे की सफ़ेदी में कुछ ही हाथ दूर से एक काली सी मूरत हमारी तरफ़ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा—"होगा कोई।"

तीन गज़ दूरी से दीख पड़ा, एक लड़का सिर के बड़े-बड़े बालों को खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगे सिर। एक मैली सी कमीज़ लटकाये है।

पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे थे, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है ! उसके क़दमों में जैसे कोई न अगला है, न पिछला है, न दायाँ है, न बायाँ है।

पास की चुंगी की लालटैन के छोटे से प्रकाश-वृत्त में देखा—कोई दस बरस का होगा। गोरे रंग का है, पर मैल से काला पड़ गया है, आँखें अच्छी बड़ी पर सूनी हैं। माथा जैसे अभी से झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। न नीचे की धरती, न ऊपर चारों तरफ़ फैला

हुआ कुहरा, न सामने का तालाब और न बाक़ी दुनियाँ। वह बस अपने विकट वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज़ दी—"ए !"

उसने जैसे जागकर देखा और पास आ गया।

"तू कहाँ जा रहा है रे ?"

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।

"दुनियाँ सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है ?"

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

"कहाँ सोयेगा ?"

"यहीं कहीं।"

"कल कहाँ सोया था ?"

"दुकान पर।"

"आज वहाँ क्यों नहीं ?"

"नौकरी से हटा दिया।"

"क्या नौकरी थी।"

"सब काम। एक रुपया और जूठा खाना।"

"फिर नौकरी करेगा ?"

"हाँ..."

"बाहर चलेगा ?"

"हाँ"

"आज क्या खाना खाया ?"

"कुछ नहीं ।"

"अब खाना मिलेगा ?"

"नहीं मिलेगा ।"

"यों ही सो जायगा ?"

"हाँ ...."

"कहाँ ?"

"यहीं कहीं ।"

"इन्हीं कपड़ों से ?"

बालक फिर आँखों से बोल कर मूक खड़ा रहा । आँखें मानों बोलती थीं—'यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न है !'

'माँ-बाप हैं ?"

"हैं !"

"कहाँ ?"

"१५ कोस दूर गाँव में ।"

"तू भाग आया ?"

"हाँ ।"

"क्यों ?"

"मेरे कई छोटे भाई-बहन हैं,—सो भाग आया । वहाँ काम नहीं । रोटी नहीं । बाप भूखा रहता था । और माँ भूखी रहती थी और रोती थी । सो भाग आया । एक

साथी और था। उसी गाँव का था,—मुझ से बड़ा। दोनों साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।"

"कहाँ गया?"

"मर गया।"

इस ज़रा-सी उम्र में ही इसकी मौत से पहचान हो गई!—मुझे अचरज हुआ, पूछा—"मर गया?"

"हाँ, साहब ने मारा, मर गया।"

"अच्छा हमारे साथ चल।"

वह साथ चल दिया। लौट कर हम वकील दोस्तों के होटल में पहुँचे।

"वकील साहब!"

वकील लोग होटल के ऊपर के कमरे से उतर कर आये। काश्मीरी दोशाला लपटे थे, मोज़े-चढ़ पैरों में चप्पल थी। स्वर में हलकी-सी झुँझलाहट थी, कुछ लापर्वाही थी।

"ओ-हो, फिर आप!—कहिए?"

"आपको नौकर की ज़रूरत थी न? देखिए, यह लड़का है।"

"कहाँ से लाये?—इसे आप जानते हैं?"

"जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता।"

"अजी ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे-बच्चे

मैं गुन छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहीं से—लो जी, यह नौकर लो।"

"मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।"

"आप भी...जी, बस खूब हैं। ऐरे गैरे को नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाय।"

"आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ!"

"मानें क्या ख़ाक?—आप भी...जी अच्छा मज़ाक करते हैं।...अच्छा, अब हम सोने जाते हैं।"

और वह चार रुपये रोज़ के किरायेवाले कमरे में सजी मसहरी पर सोने झटपट चले गये।

४

वकील साहब के चले जाने पर होटल के बाहर आकर मित्र ने अपनी जेब में हाथ डालकर कुछ टटोला पर झट कुछ निराशभाव से हाथ बाहर कर वे मेरी ओर देखने लगे।

"क्या है?"—मैंने पूछा।

"इसे खाने के लिए कुछ देना चाहता था"—अँग्रेजी में मित्र ने कहा—"मगर दस-दस के नोट हैं।"

"नोट ही शायद मेरे पास हैं;—देखूँ?"

सचमुच मेरी जेब में भी नोट ही थे। हम फिर

अँग्रेजी में बोलने लगे। लड़के के दाँत बीच-बीच में कटकटा उठते थे।—कड़ाके की सर्दी थी।

मित्र ने पूछा—"तब ?"

मैंने कहा—"दस का नोट ही दे दो।" सकपकाकर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—"अरे यार, बजट बिगड़ जायगा। हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं।"

"तो जाने दो; यह दया ही इस जमाने में बहुत है।"—मैंने कहा—

मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले—

"अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह 'होटल-डि-पब' जानता है ? वहीं कल १० बजे मिलेगा ?"

"हाँ...कुछ काम देंगे हजूर ?"

"हाँ-हाँ ढूँढ दूँगा।"

"तो जाऊँ ?"—लड़के ने निराश आशा से पूछा।

"हाँ"—ठंडी साँस खींचकर फिर मित्र ने पूछा—"कहाँ सोयेगा ?"

"यहीं कहीं; बेंचपर, पेड़ के नीचे—किसी दुकान की भट्टी में।"

बालक कुछ ठहरा। मैं असमंजस में रहा। तब वह प्रेतगति से एक ओर बढ़ा और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी थी—हमारे कोटों को पारकर बदन में तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते हुए मित्र ने कहा—"भयानक शीत है। उसके पास कम—बहुत कम कपड़े....!"

"यह संसार है यार!" मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई—"चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना।"

उदास होकर मित्र ने कहा—"स्वार्थ!—जो कहो, लाचारी कहो, निठुराई कहो—या बेहयाई!"

\+ \+ \+ \+

दूसरे दिन नैनीताल स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलार का वह बेटा—वह बालक, निश्चित समय पर हमारे 'होटल-डि-पब' में नहीं आया। हम अपनी नैनीताली सैर खुशी-खुशी ख़तम कर चलने को हुए। उस लड़के की आस लगाए बैठ रहने की जरूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला—'पिछली रात,एक पहाड़ी बालक,सड़क के किनारे पेड़ के नीचे ठिठुरकर मर गया।"

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चिथड़ों की कमीज़ मिली ! आदमियों की दुनियाँ ने बस यही उपहास उसके पास छोड़ा था ।

पर बतलानेवालों ने बताया कि गरीब के मुँह पर, छाती, मुट्ठियों और पैरों पर, बरफ की हलकी-सी चादर चिपक गई थी ! मानों दुनियाँ की बेहयाई ढकने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठंढे कफ़न का प्रबन्ध कर दिया था !

सब सुना और सोचा—"अपना-अपना भाग्य !"